ब्याज

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०)

अनुवाद

डॉ० सैयद फ़रहत हुसैन

विषय-सूची

अनुवादक के क़लम से

हर्ष का विषय है कि इस्लामी जगत् के विद्वान मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी की उर्दू पुस्तक 'ब्याज' का हिन्दी रूपान्तर करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इस विषय पर यह मौलाना की अद्वितीय कृति है। ब्याज के अनुचित, अन्यायपूर्ण एवं अमानवीय होने को मौलाना ने तथ्यों और अकाट्य दलीलों के साथ प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि ब्याज को इस्लाम ने अवैध घोषित करके इनसानों पर असीम कृपा की है। पुस्तक में यह भी बताया गया है कि ब्याज उन्मूलन के उपरान्त आर्थिक गतिविधियाँ और बैंक व बीमा सेवाएँ किस प्रकार प्रभावी रूप से जारी रहेंगी। साथ ही प्रचलित आर्थिक प्रणालियों का विश्लेषण करते हुए इस्लाम की आर्थिक शिक्षाओं को भी रेखांकित किया गया है।

मूल उर्दू पुस्तक के परिशिष्ट को छोड़कर समस्त अध्यायों को इस प्रस्तुति में सम्मिलित कर लिया गया है। अधिक विस्तृत चर्चा को कुछ स्थानों पर संक्षिप्त किया गया है।

आशा है कि हिन्दी भाषी पाठकों को विषय-सामग्री पसन्द आएगी और वे इससे निश्चित रूप से लाभान्वित होंगे।

—फ़रहत हुसैन

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
"ईश्वर के नाम से जो दयावान व कृपाशील है।"

पुस्तक-परिचय

ब्याज आज हमारे निजी और समाजी जीवन में ख़ून की तरह शामिल हो चुका है। उसकी तबाहकारियाँ भी बराबर सामने आ रही हैं। एक बार ब्याज पर पैसा लेने के बाद आदमी उसका ब्याज भरते-भरते दम तोड़ देता है फिर भी उसका पीछा नहीं छूटता। न जाने कितने लोग इस कारण आत्म-हत्या कर लेते हैं! किसानों की आत्म-हत्याओं की ख़बरें आम बात हो गई है। समझदार और बुद्धिजीवी लोग अब इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने की चिन्ता करने लगे हैं, मगर उन्हें इसका कोई हल अभी नज़र नहीं आ रहा हैं।

इस्लाम ईश्वर की ओर से भेजा गया वह रास्ता है जिसपर चलकर इनसान बहुत-सी समस्याओं से मुक्ति पा सकता है। अपनी ज़रूरतों के लिए उधार पैसे लेना एक समाजी ज़रूरत है। यह क़र्ज़ कभी अपनी निजी ज़रूरतों जैसे बीमारी, शादी-ब्याह या किसी और काम के लिए लेना पड़ सकता है, कभी अपने कारोबार या मकान या गाड़ी आदि के लिए आदमी को क़र्ज़ लेना पड़ता है। इस्लाम ने इस ज़रूरत का ख़याल रखते हुए इस बारे में विस्तृत निर्देश दिए हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इस्लाम मानवता के लिए कितना अधिक हितकारी और एक नेमत है।

मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी (रह०) ने इस विषय पर पुस्तक सूद (ब्याज) के नाम से उर्दू भाषा में लिखी है, जिसमें इस समस्या पर वार्ता करते हुए बताया गया है कि ब्याज एक तबाह कर देनेवाली चीज़ है। इसी लिए इसे इस्लाम ने अवैध (हराम) क़रार दिया है।

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट (रजि॰) दिल्ली ने इस किताब का हिन्दी अनुवाद कराने का निर्णय लिया। हमें आशा है कि यह पुस्तक मानवता की एक अहम मामले में रहनुमाई करेगी और उनके लिए एक क़ीमती उपहार साबित होगी।

यह पुस्तक 1960 ई॰ में लिखी गई है और सर्वप्रथम लाहौर से प्रकाशित हुई है, इसलिए इसका अध्ययन करते समय उन हालात को सामने रखना होगा जो उस समय थे।

01-10-2020

—नसीम ग़ाज़ी फ़लाही
सेक्रेट्री
इस्लामी साहित्य ट्रस्ट
(दिल्ली)

प्राक्कथन

सामान्यतया ब्याज के सम्बन्ध में इस्लामी क़ानून के प्रावधानों को समझने में जो ग़लती हो रही है, उसका कारण यह है कि वर्तमान समय में वह आर्थिक प्रणाली छिन्न-भिन्न हो चुकी है जिसे इस्लाम ने स्थापित किया था। उसके सिद्धान्त एवं विचार भी दिलों से मिट गए हैं और हमारे आसपास की दुनिया को एक ऐसी व्यवस्था ने जकड़ लिया है, जिसकी बुनियाद 'पूँजीवाद' के सिद्धान्तों पर रखी गई है। यह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था न केवल व्यावहारिक रूप से हमपर छाई हुई है, बल्कि हमारे मन-मस्तिष्क पर भी उसके सिद्धान्त और विचार छा गए हैं। इसलिए जब किसी आर्थिक समस्या पर हम दृष्टि डालते हैं तो हमारा दृष्टिकोण वही होता है जो पूँजीवादी व्यवस्था का है। हमारी चर्चा और शोध का आरम्भ इसी प्रकार होती है कि हम पहले पूँजीवादी विचारों और सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेते हैं और उसके बाद किसी आर्थिक पद्धति के औचित्यपूर्ण होने या न होने पर बात करते हैं। परन्तु यदि थोड़ी समझ से काम लिया जाए तो यह बात किसी से छिपी नहीं रह सकती कि शोध का यह तरीक़ा त्रुटिपूर्ण है। इस्लाम की आर्थिक प्रणाली अपनी अवधारणा और अपने सिद्धान्त में पूँजीवाद की आर्थिक प्रणाली से पूर्णरूप से भिन्न है। दोनों के लक्ष्य अलग-अलग हैं, दोनों की आत्मा भी अलग है, दोनों की कार्य-प्रणालियाँ भी अलग-अलग हैं। अब अगर किसी समस्या के सम्बन्ध में पूँजीवाद के सिद्धान्तों और विचारों को स्वीकार करके इस्लाम के आर्थिक प्रावधानों में से किसी प्रावधान पर दृष्टि डाली जाएगी तो स्वाभाविक है कि या तो वह बिलकुल ग़लत दिखाई देगा या उसमें ऐसा बदलाव कर दिया जाएगा जिससे वह इस्लामी क़ानून के उसूल से हटकर बिलकुल पूँजीवाद के साँचे में ढल जाएगा और उसमें न इस्लामी स्प्रिट शेष रहेगी, न इस्लामी क़ानून के उद्देश्य एवं लक्ष्य उससे प्राप्त हो सकेंगे और न वह अपनी आत्मा में वस्तुतः एक इस्लामी हुक्म (प्रावधान) होगा।

यही वह बुनियादी ग़लती है जिसके कारण ब्याज के विषय में हमारे आधुनिक आर्थिक विचारक इस्लामी प्रावधानों को समझने और उनके उद्देश्यों तथा औचित्य को जानने में ठोकरों-पर-ठोकरें खाते चले जा रहे हैं। वे यही नहीं जानते कि इस्लाम की आर्थिक प्रणाली किन सिद्धान्तों पर निर्मित की गई है? उसके उद्देश्य क्या हैं? उसकी आत्मा क्या है? ब्याज को उसने क्यों अवैध घोषित किया है? ब्याज-सम्बन्धी लेन-देन के विभिन्न रूपों में अवैध होने का कारण क्या चीज़ है? और जिन मामलों में ये 'कारण' पाए जाते हैं उनको इस्लामी आर्थिक प्रणाली में खपा देने से क्या दोष उत्पन्न होता है? इन सभी बुनियादी बातों से अनभिज्ञ होकर जब वे पूर्णरूप से पूँजीवादी दृष्टिकोण से ब्याज सम्बन्धी इस्लामी क़ानून पर दृष्टि डालते हैं तो उनको वास्तव में ब्याज को अवैध करने की कोई दलील ही हाथ नहीं आती, क्योंकि ब्याज तो पूँजीवाद का प्राण और उसके अन्तर में समाहित है, उसकी अनुपस्थिति में पूँजीवाद का कारोबार चल ही नहीं सकता और किसी ऐसी आर्थिक प्रणाली का ब्याज से ख़ाली होना असम्भव है जिसका भवन पूँजीवादी सिद्धान्तों पर आधारित हो।

अतः सबसे पहले यह ज़रूरी है कि आप इस्लामी आर्थिक प्रणाली तथा पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के मौलिक तथा सैद्धान्तिक अन्तर को भली-भाँति समझ लें तथा क़ुरआन और ईश्वर के पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) के आदेशों पर चिन्तन करके उन सिद्धान्तों तथा नियमों से परिचित हो जाएँ, जिनपर इस्लाम ने पँजीवाद और समाजवाद के बीच एक संतुलित आर्थिक व्यवस्था स्थापित की है। इस अध्ययन से आपको स्वयं ज्ञात हो जाएगा कि इस्लाम जिस ढंग पर आर्थिक मामलों का प्रबन्धन करता है, उसमें ब्याज को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इससे आगे बढ़कर वह इस विचारधारा और मानसिकता तथा उन आर्थिक परिस्थितियों की जड़ काट देता है जिनके कारण ब्याज-सम्बन्धी मामलों के विभिन्न रूप अस्तित्व में आते हैं।

इस संक्षिप्त प्रस्तावना के पश्चात् हम इन विषयों का कुछ विस्तार से उल्लेख करेंगे जिनकी ओर ऊपर संकेत किया गया है।

अध्याय-1

इस्लाम, पूँजीवाद और समाजवाद का सैद्धान्तिक अन्तर

आगे बढ़ने से पहले आपको संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि दुनिया में जो आर्थिक प्रणालियाँ अब तक पैदा हुई हैं, उनमें सैद्धान्तिक अन्तर क्या है? और इस अन्तर से वित्तीय एवं आर्थिक मामलों की स्थितियों में क्या परिवर्तन आते हैं?

हम दुनिया की आर्थिक प्रणालियों को मोटे तौर पर तीन बड़े वर्गों में बाँट सकते हैं—एक पूँजीवादी प्रणाली (Capitalistic System) कहलाती है, दूसरी साम्यवाद या समाजवाद (Communism) के नाम से जानी जाती है और तीसरी वह जिसे इस्लाम ने पेश किया है। यहाँ हम इन तीनों के मूल सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत करेंगे।

पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली

पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली की आधारशिला जिस विचारधारा पर रखी गई है, वह स्पष्ट शब्दों में यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कमाए हुए धन का जिस प्रकार चाहे उपयोग करे, जितने संसाधन उसको प्राप्त हों, उन्हें रोक रखे और लाभ प्राप्त किए बग़ैर उनको ख़र्च करने से इनकार कर दे। यह सोच उसी स्वार्थ से आरम्भ होती है जो प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में रखी गई है और अन्ततः स्वार्थ की उस चरम सीमा तक पहुँच जाती है जो मनुष्य के उन सभी गुणों को दबा देती है जिनका अस्तित्व मानव-समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। यदि नैतिक दृष्टिकोण को छोड़कर केवल आर्थिक

दृष्टिकोण से भी देखा जाए तो इस विचारधारा का दुष्परिणाम यह होता है कि धन के वितरण का सन्तुलन बिगड़ जाता है, संसाधन सिमटकर एक अधिक भाग्यशाली या अधिक चालाक वर्ग के पास जमा हो जाते हैं और समाज दो वर्गों—सम्पन्न तथा असम्पन्न में बंट जाता है। सम्पन्न वर्ग सभी संसाधनों पर क़ाबिज़ होकर उनको केवल अपने व्यक्तिगत हित में प्रयुक्त करे और अपनी दौलत को अधिक-से-अधिक बढ़ाने के प्रयासों से समाज के सामूहिक हित की जिस प्रकार चाहे बलि चढ़ा दे। रहा असम्पन्न वर्ग तो उसके लिए संसाधनों में हिस्सा पाने का इसके अतिरिक्त कोई मौक़ा न हो कि वह पूँजीपति की अधिक-से-अधिक सेवा करके जीवन-यापन का न्यूनतम सामान प्राप्त करेगा। ऐसी व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सोसाइटी में हमदर्दी तथा सहकारिता की भावना समाप्त हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति पूर्णरूप से केवल अपने व्यक्तिगत साधनों से जीवन बिताने को विवश हो, कोई किसी का मित्र तथा मददगार न हो। असम्पन्न वर्ग के लिए अर्थव्यवस्था का घेरा तंग हो जाए। समाज का प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहने के लिए अन्य लोगों से कड़ा संघर्ष करे। फिर जो लोग इस संघर्ष में असफल हों अथवा इसमें भाग लेने का सामर्थ्य न रखते हों, उनके लिए दुनिया में कोई सहारा न हो। वे भीख भी माँगें तो उनको आसानी से न मिल सके। किसी दिल में उनके लिए दयाभाव न हो। कोई हाथ उनकी सहायता के लिए न बढ़े। या तो वे आत्म-हत्या करके जीवन की यातना से मुक्ति प्राप्त करें या अपराध तथा अश्लीलता के कुकृत्यों द्वारा पेट पालने पर विवश हो जाएँ।

इस पूँजीवादी व्यवस्था में ज़रूरी है कि लोगों का झुकाव धन जमा करने की ओर हो तथा वे उसको केवल लाभकारी उद्देश्यों के लिए प्रयोग करने का यत्न करें। कम्पनियाँ स्थापित की जाएँ, सहकारी संस्थाएँ बनाई जाएँ तथा इन सभी विभिन्न आर्थिक उपायों में एक ही ध्येय काम करे, अर्थात् धन से और अधिक धन पैदा करना, चाहे व्यापारिक लेन-देन के द्वारा हो अथवा ब्याज के द्वारा। पूँजीवाद के दृष्टिकोण से ब्याज तथा व्यापारिक लेन-देन के बीच कोई बुनियादी अन्तर नहीं है, इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था में ये दोनों एक-दूसरे के साथ न केवल मिल जाते हैं, बल्कि कारोबार की बनावट में

उनकी हैसियत ताने-बाने की-सी होती है। उनके यहाँ व्यापार के लिए ब्याज तथा ब्याज के लिए व्यापार अनिवार्य है, किसी का दूसरे की अनुपस्थिति में विकास सम्भव नहीं हो सकता, ब्याज न हो तो पूँजीवाद की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाएगी।

साम्यवाद (Communism)

पूँजीवाद के मुक़ाबले में एक दूसरी प्रणाली है, जिसको साम्यवाद या समाजवाद कहते हैं। इसकी बुनियाद इस विचारधारा पर है कि जीवन के सभी संसाधन समाज की साझी सम्पत्ति हैं, इसलिए मनुष्यों को व्यक्तिगत रूप में उनपर मालिकाना क़ब्ज़ा करने अपनी मंशा से उनका उपयोग करने और उनके लाभ से अकेले लाभान्वित होने का कोई अधिकार नहीं। लोगों को जो कुछ मिलेगा, वह केवल उनकी सेवाओं का प्रतिफल होगा जो सोसाइटी के सामूहिक हित के लिए वे प्रदान करेंगे। सोसाइटी उनके लिए जीवन की आवश्यकताओं को उपलब्ध कराएगी और वे बदले में काम करेंगे।

यह सिद्धान्त एक-दूसरे ढंग पर अर्थव्यवस्था की व्यवस्था करता है जो बुनियादी तौर पर पूँजीवाद से भिन्न है। इस व्यवस्था में 'व्यक्तिगत स्वामित्व' का कोई अस्तित्व ही नहीं, फिर इसकी कहाँ गुंजाइश है कि कोई रुपया जमा करे और उसको स्वयं कारोबार में लगाए। यहाँ क्योंकि 'अवधारणा' तथा 'सिद्धान्त' में अन्तर हो गया है, इसलिए 'विधियाँ' भी बदल गईं। पूँजीवादी व्यवस्था का सिस्टम बैंकिंग, बीमा और संयुक्त पूँजी कम्पनियों (Joint Stock Companies) और ऐसी ही दूसरी संस्थाओं की अनुपस्थिति में नहीं चल सकता, परन्तु साम्यवाद की संरचना तथा उसके आर्थिक मामलों में न तो इन संस्थाओं की गुंजाइश है और न ज़रूरत। पूँजीवाद की प्रकृति से ब्याज को जितनी गहरी अनुकूलता है, साम्यवाद की प्रकृति से उसको उतनी ही घोर प्रतिकूलता है। साम्यावद उस चीज़ की बुनियाद ही ढा देता है जिसके आधार पर एक व्यक्ति ब्याज लेता है और दूसरा व्यक्ति ब्याज देता है। उसके सिद्धान्त किसी ढंग और किसी स्थिति में भी ब्याज को जाइज़ नहीं रखते और जो व्यक्ति इन सिद्धान्तों में आस्था

रखता हो, उसके लिए सम्भव नहीं कि वह एक ही समय में कम्यूनिस्ट भी हो और ब्याज का लेन-देन भी करे।[1]

साम्यवाद और पूँजीवाद एक-दूसरे के विरुद्ध दो विरोधाभासी अतियों पर स्थित है। पूँजीवादी प्रणाली व्यक्तियों को उनके स्वाभाविक अधिकार तो देती है, परन्तु उसके सिद्धान्तों एवं नियमों में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो व्यक्तियों को समाज के सामूहिक हित के लिए तैयार करनेवाली हो और आवश्यकता पड़ने पर उसको मजबूर करनेवाली हो, बल्कि वास्तव में वह लोगों में एक ऐसी स्वार्थी सोच पैदा करती है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित में समाज के विरुद्ध संघर्षरत रहता है और इस संघर्ष के कारण धन के वितरण का सन्तुलन बिगड़ जाता है। एक ओर कुछ भाग्यशाली लोग समाज की दौलत को समेटकर लखपति और करोड़पति बन जाते हैं और अपनी पूँजी की शक्ति और अधिक दौलत खींचते चले जाते हैं।

दूसरी ओर आम जनता की आर्थिक स्थिति ख़राब-से-ख़राब होती चली जाती है, धन के वितरण में उनका हिस्सा घटते-घटते शून्य के लगभग रह जाता है। प्रारम्भ में पूँजीवादियों के धन-दौलत के प्रदर्शन से समाज में एक धोखा देनेवाली चमक-दमक तो अवश्य पैदा होती है, परन्तु धन के असन्तुलित वितरण का अन्तिम परिणाम इसके अतिरिक्त कुछ नहीं होता कि आर्थिक जगत् के 'शरीर' में रक्त का बहाव बन्द हो जाता है। शरीर के अधिकांश भाग रक्त की कमी के कारण सूखकर नष्ट हो जाते हैं और मुख्य अंगों में रक्त का अधिक इकट्ठा हो जाना उन्हें तबाह कर देता है।

साम्यवाद इस ख़राबी का इलाज करना चाहता है, मगर वह एक उचित

---

1. उल्लेखनीय है कि यहाँ हम केवल सैद्धान्तिक चर्चा कर रहे हैं, वरना व्यावहारिक रूप से समाजवाद ने रूस में बहुत पलटियाँ खाई हैं और अपने अतिवादी विचारों के व्यवहार में नाकाम होने पर वह पूँजीवाद की विभिन्न रीतियों को अपनाता चला गया है। अब वहाँ उन लोगों के लिए जो अपनी आवश्यकताओं से अधिक पारितोषिक पाते हैं, यह सम्भव हो गया है कि वे अपनी अतिरिक्त आय को जमा करें, उसे बैंक में रखें और ब्याज प्राप्त करें।

उद्देश्य के लिए अनुचित मार्ग अपनाता है। उसका उद्देश्य निस्सन्देह धन के वितरण में सन्तुलन स्थापित करना है, मगर उसके लिए वह ऐसी रीति अपनाता है जो वास्तव में मानव-प्रकृति के विरुद्ध है। लोगों को व्यक्तिगत स्वामित्व से वंचित करके पूर्णरूप से समाज का सेवक बना देना न केवल अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी है, वरन् बड़े पैमाने पर मानव-सभ्यता के लिए घातक है, क्योंकि यह चीज़ आर्थिक गतिविधियों और सभ्यता से उसकी आत्मा, उसकी वास्तविक प्रेरणादायक शक्ति को निकाल देती है। सभ्यता और अर्थव्यवस्था में इनसान को जो चीज़ अपनी अधिकतम शक्ति के साथ कार्य करने पर उभारती है, वह वास्तव में उसका व्यक्तिगत स्वार्थ है।[1] यह इनसान का स्वाभाविक स्वार्थ है जिसको कोई दर्शन उसके मन-मस्तिष्क से नहीं निकाल सकता। असाधारण व्यक्तियों को छोड़कर एक मध्यम श्रेणी का आदमी अपने मन-मस्तिष्क और सभी शारीरिक शक्तियाँ मात्र इसी कार्य में ख़र्च करता है और कर सकता है, जिसमें उसको स्वयं अपने हित के लिए व्यक्तिगत रुचि होती है। यदि सिरे से यह रुचि ही शेष न रहे और उसको ज्ञात हो कि उसके लिए लाभ की जो सीमा निर्धारित कर दी गई है, उससे बढ़कर वह अपने प्रयासों से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकेगा तो उसके सोचने एवं कार्य करने के अंग शिथिल हो जाएँगे और वह मात्र एक श्रमिक की भाँति कार्य करेगा, जिसको अपने कार्य से मज़दूरी के हिसाब से ही दिलचस्पी होती है।

यह तो साम्यवादी प्रणाली का आन्तरिक पहलू है। उसका बाहरी तथा व्यावहारिक पहलू यह है कि वह पूँजीपतियों को समाप्त करके एक बहुत बड़े पूँजीपति को अस्तित्व में लाता है, अर्थात् 'साम्यवादी सत्ता'। यह बड़ा

1. साम्यवाद को वैचारिक रूप से प्रारंम्भ में इस तथ्य से इनकार था, बल्कि उसके अतिवादी दार्शनिक तो यहाँ तक कह गए कि इनसान अपने अन्दर किसी प्रकार का जन्मजात झुकाव नहीं रखता, सब कुछ वातावरण की पैदावार है और शिक्षा-दीक्षा से हम व्यक्तियों में वह सामाजिक मानसिकता उत्पन्न कर सकते हैं जो स्वार्थी मानसिकता से ख़ाली हो। परन्तु अनुभव ने साम्यवादी महाशयों के इस भ्रम को दूर कर दिया।

पूँजीपति इनसान की सूक्ष्म भावनाओं की उस न्यूनतम मात्रा से भी ख़ाली होता है जो पूँजीपतियों में पाई जाती है। वह बिलकुल एक मशीन की भाँति लोगों से काम लेता है और पूरी तानाशाही से उनके बीच साधनों का वितरण करता है। उसके पास न हमदर्दी है और न अच्छाई की स्वीकारोक्ति। वह इनसानों से इनसानों की भाँति काम नहीं लेता, बल्कि मशीन के कलपुर्ज़ों की भाँति काम लेता है और उनसे सोचने एवं कार्य करने की स्वतन्त्रता छीन लेता है। इस कठोर तानाशाही के बग़ैर साम्यवादी प्रणाली न स्थापित हो सकती है और न स्थापित रह सकती है, क्योंकि लोगों की प्रकृति इस प्रणाली के विरुद्ध हर समय विद्रोह के लिए तत्पर रहती है। अगर उनको सदैव ज़ोर-ज़बरदस्ती के शिकंजे में जकड़कर न रखा जाए तो वे साम्यवादी प्रणाली को देखते-देखते नष्ट कर देंगे। यही कारण है कि रूस की सोवियत सरकार विश्व की सरकारों में सबसे अधिक कठोर तथा तानाशाही सरकार रही है, जिसने अपनी प्रजा को कठोर शिकंजे में जकड़ रखा था।[1] इसका यह रवैया संयोग नहीं था, बल्कि वास्तव में डिक्टेटरशिप साम्यवाद की प्रकृति की माँग है।

इस्लामी प्रणाली (Islamic System)

इस्लाम इन दो विरोधाभासी आर्थिक प्रणालियों के बीच एक सन्तुलित व्यवस्था स्थापित करता है, जिसकी आधारशिला यह है कि व्यक्ति को उसके पूरे-पूरे व्यक्तिगत एवं स्वाभाविक अधिकार भी दिए जाएँ और उसके साथ धन के वितरण का सन्तुलन भी न बिगड़ने दिया जाए। एक ओर वह व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार और अपने माल को व्यय करने का अधिकार देता है और दूसरी ओर वह उन सब अधिकारों तथा शक्तियों पर आन्तरिक रूप से कुछ ऐसे नैतिक प्रतिबन्ध तथा बाहर से कुछ ऐसे क़ानूनी प्रतिबन्ध लागू करता है जिनका उद्देश्य यह है कि किसी स्थान पर साधनों का असाधारण एकत्रीकरण न हो सके। धन-दौलत तथा संसाधन सदैव

1. इस तानाशाही के उदाहरण सोवियत रूस के इतिहास में देखे जा सकते हैं। (अनुवादक)

बहाव में रहे और यह बहाव ऐसा हो कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आनुपातिक भाग मिल सके। इस उद्देश्य के लिए उसने अर्थव्यवस्था का प्रबन्ध एक और ढंग पर किया है जो अपनी प्रकृति, अपने सिद्धान्त तथा अपनी कार्य-विधि के आधार पर पूँजीवाद तथा साम्यवाद दोनों से भिन्न है।

इस्लाम की आर्थिक विचारधारा संक्षेप में यह है कि आर्थिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत हित और सभी लोगों का सामूहिक हित एक-दूसरे के साथ गहनता से जुड़ा होता है, इसलिए दोनों में टकराव के बजाय अनुकूलता एवं सहयोग होना चाहिए। व्यक्ति यदि सामूहिक हित के विरुद्ध संघर्ष करके समाज का धन अपने पास समेट ले और उसे संचित रखने अथवा उसे ख़र्च करने में मात्र अपने व्यक्तिगत हित को ध्यान में रखे तो यह केवल समाज ही के लिए हानिकारक नहीं है, बल्कि आगे चलकर दूसरी हानियाँ स्वयं उस व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व की ओर भी लौट आती हैं। इसी प्रकार यदि समाज की व्यवस्था ऐसी हो कि वह सामूहिक हित के लिए व्यक्तियों के व्यक्तिगत हित का त्याग कर दे तो उसमें केवल व्यक्तियों ही का नुक़सान नहीं है, बल्कि आगे चलकर समाज का भी नुक़सान है। अतः व्यक्ति की बेहतरी इसी में है कि लोग खुशहाल हों और दोनो की खुशहाली इस पर निर्भर करती है कि व्यक्तियों में स्वार्थ तथा हमदर्दी का उचित अनुपात बना रहे। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए दौड़-धूप करे, मगर इस प्रकार कि अन्य लोगों को हानि न हो। प्रत्येक मनुष्य जितना कमाना चाहे कमाए, परन्तु उसकी आय में दूसरों का भी हक़ हो। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं भी लाभ प्राप्त करे और दूसरों को भी लाभ पहुँचाए। लाभ के इस बँटवारे और धन के इस संचार को जारी रखने के लिए व्यक्तियों के अन्दर कुछ नैतिक गुण पैदा कर देना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसके साथ समाज का क़ानून भी ऐसा होना चाहिए जो धन के कमाने और ख़र्च करने दोनों का उचित प्रबन्धन कर सके। उसके अधीन किसी को हानिप्रद रीतियों-नीतियों से धन कमाने का अधिकार न हो और जो धन वैध तरीक़ों से कमाया जाए, वह एक स्थान पर सिमटकर न रह जाए, बल्कि ख़र्च हो तथा अधिक-से-अधिक बहाव में रहे।

इस विचारधारा पर जिस आर्थिक प्रणाली की आधारशिला रखी गई है, उसका उद्देश्य न तो यह है कि कुछ लोग करोड़पति बन जाएँ और शेष सभी भूखे रहें और न इसका उद्देश्य यह है कि कोई करोड़पति न बन सके और बलपूर्वक सबको उनके स्वाभाविक अन्तर के बावजूद एक ही स्थिति में कर दिया जाए। इन दोनों अतियों के मध्य इसका लक्ष्य केवल यह है कि समाज के सभी लोगों की आर्थिक आवश्यकताएँ पूर्ण हों। यदि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों को हानि पहुँचाए बिना अपनी स्वाभाविक सीमा के अन्दर रहकर जीविकोपार्जन का प्रयास करे और फिर अपने कमाए हुए माल को ख़र्च में कमी तथा सहकारिता को ध्यान में रखे तो समाज में वह आर्थिक असन्तुलन पैदा ही नहीं हो सकता जो पूँजीवादी व्यवस्था में पाया जाता है, क्योंकि इस प्रकार की अर्थव्यवस्था यद्यपि करोड़पति बनने से नहीं रोकती, परन्तु उसके अधीन यह भी सम्भव नहीं है किसी करोड़पति का धन उसके हज़ारों नागरिकों की भुखमरी का परिणाम हो। दूसरी ओर यह आर्थिक प्रणाली सभी लोगों को ईश्वर-प्रदत्त धन में भागीदार बनाना चाहती है, परन्तु ऐसे कृत्रिम बन्धन लगाने की अनुमति नहीं देती, जिनके कारण कोई व्यक्ति अपनी शक्ति एवं योग्यता के अनुसार धन न कमा सकता हो।

इस्लामी आर्थिक प्रणाली और उसके अंग

इस्लाम ने समाजवादी और पूँजीवादी दोनों आर्थिक प्रणालियों के बीच जो मध्यमार्गी आर्थिक दृष्टिकोण अपनाया है, उसपर एक व्यावहारिक व्यवस्था का भवन तैयार करने के लिए वह नैतिकता और क़ानून दोनों से मदद लेता है। अपनी नैतिक शिक्षाओं के द्वारा वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इस व्यवस्था के ऐच्छिक पालन के लिए मानसिक रूप से तैयार करता है और क़ानूनी शक्ति द्वारा वह उनपर ऐसे प्रतिबन्ध लगाता है जो उन्हें इस प्रणाली की सीमा में रहने को बाध्य करें और परिधि को न लाँघने दें। ये नैतिक नियम और क़ानूनी आदेश इस आर्थिक व्यवस्था के स्तम्भ हैं। इसलिए इस प्रणाली की प्रकृति को समझने के लिए ज़रूरी है कि उनपर एक विस्तृत दृष्टि डाल लें।

1. धनोपार्जन के तरीक़ों में वैध और अवैध का भेद

सबसे पहली चीज़ यह है कि इस्लाम अपने माननेवालों को धन कमाने का आम लाइसेंस नहीं देता, बल्कि कमाने के तरीक़ों में सामूहिक हित के आधार पर वैध और अवैध का भेद करता है। यह भेद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि धनोपार्जन के वे सभी तरीक़े अवैध हैं जिनमें एक व्यक्ति को लाभ और दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों को नुक़सान हो और हर वह तरीक़ा वैध है जिसमें लाभ का बँटवारा सम्बन्धित लोगों के बीच न्यायोचित ढंग से हो। पवित्र क़ुरआन इस सिद्धान्त का उल्लेख इस प्रकार करता है—

"ऐ लोगो जो ईमान लाए हो! आपस में एक-दूसरे के माल अनुचित

ढंग से न खाओ, लेन-देन होना चाहिए आपसी सहमति से। और खुद अपनी हत्या न करो। विश्वास करो कि अल्लाह तुमपर बहुत दयावान है और जो कोई ज़ुल्म और ज़्यादती से ऐसा करेगा, तो उसे ज़रूर हम आग में झोंकेंगे।

(क़ुरआन, सूरा-4 अन-निसा, आयतें-29-30)

क़ुरआन की उपर्युक्त आयत में व्यापार से आशय है वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रतिफल के साथ लेन-देन। आपसी सहमति की शर्त लगाकर लेन-देन के उन सभी तरीक़ों को अवैध कर दिया गया है जिनमें किसी भी प्रकार का दबाव हो या कोई धोखा या कोई ऐसी चालाकी हो जो यदि दूसरे पक्षकार को ज्ञात हो जाए तो वह उसपर राज़ी न हो। फिर अधिक ज़ोर देकर कहा गया, "और खुद अपनी हत्या न करो।" इसके दो अर्थ हैं और यहाँ दोनों ही अर्थ मिलते हैं—एक यह कि तुम आपस में एक-दूसरे की हत्या न करो, दूसरा यह कि तुम स्वयं अपने-आपको क़त्ल न करो। अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति अपने हित के लिए दूसरे का अहित करता है, मानो वह उसका ख़ून पीता है और अन्ततः स्वयं अपनी बर्बादी का रास्ता खोलता है।

इस सैद्धान्तिक आदेश के अतिरिक्त पवित्र क़ुरआन में विभिन्न स्थानों पर धनोपार्जन के जिन तरीक़ों को वर्जित किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

★ घूसख़ोरी और माल हड़पना। (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-188)

★ अमानत में ख़यानत, चाहे व्यक्तिगत धन का हो या सरकारी धन का। (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-283; सूरा-3, आले-इमरान, आयत-161)

★ चोरी। (क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-38)

★ अनाथ के धन को अनुचित रूप से ख़र्च करना। (क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-10)

★ नाप-तौल में कमी। (क़ुरआन, सूरा-83 मुतफ़फ़िफ़ीन, आयत-3)

★ अश्लीलता फैलानेवाले कारोबार। (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-19)

★ देहव्यापार और वेश्यावृत्ति। (क़ुरआन, सूरा-24 नूर, आयत-2, 33)

★ शराब बनाना, बेचना तथा उसका यातायात।

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

★ जुआ और ऐसे सभी साधन जिनसे कुछ लोगों के माल दूसरे लोगों को हस्तान्तरण मात्र भाग्य और संयोग पर आधारित हों।

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

★ मूर्ति बनाने, बेचने और उनकी सेवा का कारोबार।

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

★ ज्योतिषी और फ़ाल निकालना।

(क़ुरआन, सूरा-5 माइदा, आयत-90)

★ ब्याज-सम्बन्धी कारोबार।

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-275, 278, 280;
सूरा-3 आले-इमरान, आयत-130)

2. धन जमा करके रखने का निषेध

दूसरा महत्वपूर्ण आदेश यह है कि जाइज़ तरीक़ों से जो धन कमाया जाए उसको जमा करके न रखा जाए, क्योंकि इससे धन के संचार की गति रुक जाती है। परिणामतः धन के वितरण का सन्तुलन बिगड़ जाता है। धन समेट-समेटकर जमा करनेवाला स्वयं धन की मुहब्बत के रोग का शिकार हो जाता है, बल्कि वास्तव में पूरी सोसाइटी के विरुद्ध एक घोर अपराध करता है और इसका नतीजा अन्ततः स्वयं उसके लिए भी बुरा होता है। इसी लिए पवित्र क़ुरआन कंजूसी और तंग-दिली का सख़्त विरोधी है। वह कहता है—

"जो लोग अल्लाह की दी हुई अनुकम्पा में कंजूसी करते हैं, वे यह न समझें कि यह कंजूसी उनके लिए अच्छी है। नहीं, यह उनके लिए बहुत ही बुरी है।" (क़ुरआन, सूरा-3 आले-इमरान, आयत-180)

"और जो लोग सोना-चाँदी इकट्ठा करते हैं और उसको अल्लाह के मार्ग में ख़र्च नहीं करते, उन्हें दर्दनाक यातना की सूचना दे दो।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-34)

यह चीज़ पूँजीवादी सोच पर चोट लगाती है। बचत को जमा करना और जमा किए गए धन को और अधिक धन पैदा करने में निवेश करना यही पूँजीवाद की जड़ है, मगर इस्लाम सिरे से इस बात को पसन्द ही नहीं करता कि आदमी अपनी ज़रूरत से अधिक धन को जमा करके रखे।

3. ख़र्च करने का आदेश

जमा करने के बजाए इस्लाम ख़र्च करने की शिक्षा देता है, मगर ख़र्च करने से उसका उद्देश्य यह नहीं है कि आप भोग-विलास तथा गुलछर्रे उड़ाने में धन को लुटा दें, बल्कि वह ख़र्च करने का हुक्म 'ईश्वरीय मार्ग' के प्रतिबन्ध के साथ देता है, यानी आपके पास अपनी आवश्यकता की आपूर्ति से जो बच जाए, उसको सोसाइटी की भलाई के कामों में ख़र्च कर दें। यही ईश्वरीय मार्ग है—

"और पूछते हैं कि हम अल्लाह के रास्ते में कितना ख़र्च करें? कहो : जो कुछ तुम्हारी आवश्यकता से अधिक हो।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-219)

"अच्छा व्यवहार करो माँ-बाप के साथ, नातेदारों, अनाथों और मुहताजों के साथ और पड़ोसी नातेदार से, अपरिचित पड़ोसी से, साथ और निकट बैठनेवाले साथियों और मुसाफ़िरों से और उन दास-दासियों से जो तुम्हारे अधिकार में हों।"

(क़ुरआन, सूरा-4 निसा, आयत-36)

"और उनके मालों में माँगनेवालों और धनहीन का हक़ है।"

(क़ुरआन, सूरा-51 ज़ारियात, आयत-19)

यही वह बिन्दु है जहाँ इस्लामी अवधारणा पूँजीवादी दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न हो जाती है। पूँजीपति समझता है कि ख़र्च करने से ग़रीब हो जाऊँगा और जमा करने से मालदार बनूँगा। इस्लाम कहता है कि ख़र्च करने से बरकत होगी, तेरी दौलत घटेगी नहीं, बल्कि और बढ़ेगी। ख़ुदा कहता है—

"शैतान तुम्हें निर्धनता से डराता है और (कंजूसी जैसे) लज्जापूर्ण

कामों पर उकसाता है, जबकि अल्लाह अपनी क्षमा और उदार अनुकम्पा की तुम्हें उम्मीद दिलाता है।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-268)

पूँजीपति समझता है कि जो ख़र्च कर दिया, वह खो गया। इस्लाम कहता है कि खो नहीं गया, बल्कि उसका उत्तम लाभ तुम्हारी ओर पलटकर आएगा–

"और भलाई के कामों में जो कुछ माल तुम ख़र्च करोगे उसका पूरा-पूरा बदला तुम्हें दिया जाएगा और तुम्हारा हक़ हरगिज़ न मारा जाएगा।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-272)

"और जो कुछ हमने उन्हें रोज़ी दी है उसमें से खुले और छिपे ख़र्च करते हैं, यक़ीनन वे एक ऐसे व्यापार की आशा रखते हैं जिसमें कभी घाटा न होगा। (इस व्यापार में उन्होंने अपना सब कुछ इसलिए खपाया है) ताकि अल्लाह उन्हें पूरा-पूरा बदला दे बल्कि अपने उदार अनुग्रह से उन्हें और अधिक भी प्रदान करे।"

(क़ुरआन, सूरा-35 फ़ातिर, आयतें-29, 30)

पूँजीपति समझता है कि धन-दौलत को जमा करके ब्याज पर देने से धन-दौलत बढ़ती है। इस्लाम कहता है कि नहीं, ब्याज से तो धन-दौलत घट जाती है। धन-दौलत बढ़ाने का तरीक़ा यह है उसे भले कामों से ख़र्च किया जाए–

"अल्लाह ब्याज का मठ मार देता है तथा सदक़ों (दान-पुण्य) को बढ़ाता है।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-276)

"जो तुम ब्याज देते हो ताकि लोगों के मालों में शामिल होकर बढ़ जाए, तो अल्लाह की दृष्टि में वह नहीं बढ़ता। और जो ज़कात (दान) तुम अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के इरादे से देते हो, उसी के देनेवाले वास्तव में अपना धन बढ़ाते हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-39)

यह एक नया दृष्टिकोण है जो पूँजीवादी सोच के बिलकुल विपरीत है।

ख़र्च करने से धन-दौलत का बढ़ना और ख़र्च किए हुए माल का समाप्त न होना बल्कि उसका पूरा-पूरा बदला कुछ अधिक लाभ के साथ वापस आना, ब्याज द्वारा माल में अधिकता के बजाए उलटा घाटा होना, दान-पुण्य और ज़कात से माल में कमी होने के बजाए वृद्धि होना—ये अजीब-सी बातें मालूम होती हैं। सुननेवाला समझता है कि शायद इन सब बातों का सम्बन्ध केवल परलोक में प्राप्त होनेवाले पुण्य से होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इन बातों का सम्बन्ध परलोक के पुण्य से भी है और इस्लाम की दृष्टि में वास्तविक महत्व उसी का है। परन्तु यदि गहराई से चिन्तन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इस संसार में भी आर्थिक दृष्टि से यह अवधारणा एक सुदृढ़ आधार पर स्थापित है। माल जमा करने और उसे ब्याज पर चलाने का आख़िरी नतीजा यह है कि धन-दौलत सिमट-सिमटकर कुछ गिने-चुने लोगों के पास इकट्ठा हो जाए। आम लोगों की क्रय-शक्ति (Purchasing Power) दिन-प्रतिदिन घटती चली जाए। उद्योग, व्यापार और कृषि में 'मन्दी' छा जाए। राष्ट्र का आर्थिक जीवन तबाही के आख़िरी छोर पर जा पहुँचे और अन्ततः पूँजीपतियों के लिए भी अपनी जमा राशि को बढ़ोत्तरी के कार्यों में निवेश करने का अवसर शेष न बचे।[1] इसके विपरीत माल के ख़र्च करने और ज़कात और दान देने का नतीजा यह है कि तमाम लोगों तक धन-दौलत फैल जाए, प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त क्रय-शक्ति प्राप्त हो, उद्योग पनपें, खेतियाँ लहलहाएँ, व्यापार में ख़ूब बढ़ोत्तरी हो। चाहे कोई लखपति-करोड़पति न हो, मगर सब ख़ुशहाल और चिन्ता-मुक्त हों। इस नज़रिए की सच्चाई देखनी हो तो अमेरिका के वर्तमान आर्थिक संकट को देखें,[2] जहाँ ब्याज के कारण ही साधनों के वितरण का सन्तुलन बिगड़ गया है और औद्योगिक मन्दी ने राष्ट्र के आर्थिक जीवन को तबाही के सिरे पर पहुँचा दिया है। इसकी तुलना में इस्लामी युग

---

1. इसी बात की ओर संकेत है ख़ुदा के पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) के इस कथन में—"ब्याज चाहे कितना ही अधिक हो, मगर अन्ततः वह कमी की ओर ही पलटता है।" (हदीस : इब्ने-माजा, बैहक़ी, अहमद)
2. इशारा है उस भयानक मन्दी की ओर जो यह किताब लिखते समय अमेरिका में छाई हुई थी।

के आरम्भिक काल को देखिए कि जब इस आर्थिक विचार को व्यावहारिक रूप दिया गया तो कुछ वर्षों के भीतर ही राष्ट्र की सम्पन्नता इस ऊँचाई पर पहुँच गई कि लोग ज़कात और दान की रक़म को लेनेवाले लोगों को ढूँढ़ते फिरते थे और बड़ी मुश्किल से कोई ऐसा व्यक्ति मिलता था जो स्वयं ज़कात देनेवाला न हो। इन दोनों स्थितियों की तुलना करने से ज्ञात हो जाएगा कि ईश्वर किस प्रकार ब्याज को घटा देता है और सदक़ा व ज़कात को बढ़ावा देता है।

फिर इस्लाम जो मानसिकता पैदा करता है वह पूँजीवादी मानसिकता से पूर्णतया भिन्न है। पूँजीपति के दिमाग़ में यह बात बैठ ही नहीं सकती कि एक व्यक्ति अपना धन दूसरे को ब्याज के बग़ैर भी दे सकता है। वह ऋण पर ब्याज तो लेता ही है और अपने मूलधन तथा ब्याज की प्राप्ति के लिए क़र्ज़दार के कपड़े और घर के बर्तन तक की कुर्क़ करा लेता है। मगर इस्लाम की शिक्षा यह है कि ज़रूरतमन्द को केवल क़र्ज़ ही न दो, बल्कि अगर वह तंगी में हो तो उसपर तक़ाज़े में सख़्ती न करो, यहाँ तक कि यदि वह देने में समर्थ नहीं हो तो उसके ऋण को माफ़ कर दो। क़ुरआन में है—

> "अगर तुम्हारा ऋणी (क़र्ज़दार) तंगी में हो तो उसकी स्थिति सुधरने तक मुहलत दो, और अगर (ऋण को) माफ़ कर दो तो यह तुम्हारे लिए अधिक उत्तम है। अगर तुम समझो।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-280)

पूँजीवादी व्यवस्था में सहकारिता का अर्थ है कि आप पहले सहकारी संस्था में शुल्क जमा करके मेम्बर बनिए, फिर अगर आपको कोई ज़रूरत पेश आएगी तो संस्था बाज़ार की प्रचलित दर से कुछ कम ब्याज दर पर ऋण दे देगी। यदि आपके पास पैसा नहीं है तो सहकारी संस्था से आप कोई सहायता प्राप्त नहीं कर सकते। इसके विपरीत इस्लामी अवधारणा यह कि जो लोग सम्पन्न हों और सामर्थ्य रखते हों, वे आवश्यकता पड़ने पर अपने कम सामर्थ्य रखनेवाले भाइयों को न केवल ऋण दें, बल्कि ऋण की अदायगी में उनकी मदद करें। इसी लिए ज़कात के ख़र्च की मदों में एक मद—'क़र्ज़दारों के क़र्ज़ अदा करना' भी है।

पूँजीपति अगर भलाई के कामों में ख़र्च करता है तो केवल दिखावे के लिए, क्योंकि उस कमनज़र के नज़दीक इस ख़र्च का कम-से-कम इतना बदला तो मिल ही जाए कि उसका नाम हो जाए, वह लोकप्रिय हो जाए, उसकी साख़ बढ़े और समाज में धाक बैठ जाए। मगर इस्लाम कहता है कि ख़र्च करने में दिखावा बिलकुल ही नहीं होना चाहिए। खुले या छिपे जो भी ख़र्च करो, उसमें यह उद्देश्य न हो कि उसका बदला किसी-न-किसी ढंग से तुरन्त मिल जाए, बल्कि निस्स्वार्थ काम करो। इस तरह यह ख़र्च दुनिया से लेकर आख़िरत (परलोक) तक फलता-फूलता नज़र आएगा और लाभ-पर-लाभ पैदा करता दिखाई देगा।

"जो अपना माल सिर्फ़ दिखावे के लिए ख़र्च करता है और न अल्लाह को मानता है, न आख़िरत को, उसके ख़र्च की मिसाल ऐसी है जैसे एक चट्टान पर मिट्टी पड़ी हुई थी। उसपर जब ज़ोर की बारिश हुई तो सारी मिट्टी बह गई और साफ़ चट्टान-की-चट्टान रह गई। ऐसे लोग अपनी दृष्टि में दान करके जो नेकी कमाते हैं उससे कुछ भी उनके हाथ नहीं आता.....। इसके विपरीत जो लोग अपने माल सिर्फ़ अल्लाह की ख़ुशी की चाहत में हृदय की पूरी स्थिरता के साथ ख़र्च करते हैं उनके ख़र्च की मिसाल ऐसी है जैसे एक उच्च सतह पर एक बाग़ हो, अगर ज़ोर की बारिश हो जाए तो दुगना फल लाए, यदि ज़ोर की बारिश न भी हो तो मात्र हल्की फुहार ही उसके लिए काफ़ी हो जाए।"

(क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-264, 265)

"यदि तुम खुले तौर पर सदक़े (दान) दो यह भी अच्छा है, और यदि उनको छिपाकर मुहताजों को दो तो यह तुम्हारे लिए और अधिक अच्छा है। (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-271)

पूँजीपति और धनवान अगर भले कामों में कुछ ख़र्च भी करता है तो अनमने ढंग से करता है और अपना ख़राब-से-ख़राब माल देता है, फिर जिसको देता है उसकी आधी जान अपनी ज़बान के नश्तरों से निकाल लेता है। इस्लाम, इसके बिलकुल विपरीत यह सिखाता है कि अच्छा माल ख़र्च

करो, ख़र्च करके एहसान न जताओ, बल्कि ऐसी इच्छा ही न रखो कि कोई तुम्हारे सामने एहसानमन्दी प्रकट करे। अल्लाह कहता है—

> "तुमने जो माल कमाया है और जो कुछ हमने तुम्हारे लिए धरती से निकाला है, उसमें से अच्छा हिस्सा ईश्वरीय मार्ग में ख़र्च करो, ऐसा न कि ख़राब-से-ख़राब चीज़ छाँटने की कोशिश करने लगो।"
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-267)

> "अपने सदक़ों को एहसान जताकर और दुख पहुँचाकर बर्बाद न कर लो।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-264)

> "और वे अल्लाह की मुहब्बत में मुहताज, अनाथ और क़ैदी को खाना खिलाते हैं, (और कहते हैं कि) हम तो सिर्फ़ अल्लाह के लिए तुमको खिला रहे हैं, हम तुमसे न कोई बदला चाहते हैं, न शुक्रिया।" (क़ुरआन, सूरा-76 दह्र, आयतें-8, 9)

छोड़िए इस सवाल को कि नैतिकता के दृष्टिकोण से इन दोनों सोचों में कितना बड़ा अन्तर है। हम कहते हैं कि विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ही देख लीजिए कि लाभ और हानि के इन दोनों सिद्धान्तों में से कौन ज़्यादा मज़बूत और दूरगामी परिणामों के आधार पर ज़्यादा सही है। फिर जब फ़ायदे और नुक़सान के मामले में इस्लामी अवधारणा वह है जो आप पढ़ चुके हैं तो यह कैसे सम्भव है कि इस्लाम किसी भी रूप में ब्याज पर आधारित कारोबार को जाइज़ (वैध) रखे?

4. ज़कात

जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ, आर्थिक क्षेत्र में इस्लाम जिस उद्देश्य को सामने रखता है वह यह है कि धन किसी स्थान पर जमा न होने पाए। वह चाहता है कि सोसाइटी में जिन व्यक्तियों को अपनी बेहतर योग्यता या सौभाग्य के कारण उनकी आवश्यकता से अधिक धन प्राप्त हो गया हो, वे उसको समेटकर न रखें, बल्कि ख़र्च करें और ऐसी मदों पर ख़र्च करें जिनसे दौलत के संचार में सोसाइटी के कम भाग्यशाली लोगों को भी पर्याप्त हिस्सा

मिल जाए। इसके लिए इस्लाम एक ओर अपने उच्च स्तरीय नैतिक उपदेशों के द्वारा उदारता और वास्तविक सहभागिता की भावना पैदा करता है, ताकि लोग स्वयं अपने आप धन जमा करने को बुरा समझें और उसे ख़र्च कर देने की ओर प्रेरित हों। दूसरी ओर वह ऐसा क़ानून बनाता है कि जो लोग दानशीलता की इस शिक्षा के बावजूद अपने लालची स्वभाव के कारण रुपया जोड़ने और धन जमा करने की मानसिकता रखते हों या जिनके पास किसी-न-किसी रूप में माल जमा हो जाए, उनके माल में से कम-से-कम एक भाग सोसाइटी के कल्याण के लिए अवश्य निकलवा लिया जाए। इसी चीज़ का नाम ज़कात है और इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था में इसको इतना महत्व दिया गया है कि इसे इस्लाम के महत्वपूर्ण अंगों में शामिल कर दिया गया है। नमाज़ के बाद सबसे अधिक इसी की ताकीद की गई है और साफ़-साफ़ कह दिया गया है कि जो व्यक्ति माल जमा करता है, उसका माल उसके लिए जाइज़ ही नहीं हो सकता, जब तक कि वह ज़कात अदा न करे—

> ''ऐ नबी! तुम उनके मालों में से सदक़ा (दान) वसूल करके उनको पवित्र करो और (नेकी की राह में) उन्हें बढ़ाओ।''
>
> (क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-103)

आयत के अन्तिम वाक्यांश से स्पष्ट हो रहा है कि धनी व्यक्ति के पास जो धन जमा होता है, वह इस्लाम की नज़र में एक अपवित्र चीज़ है और वह पवित्र नहीं हो सकता जब तक उसका मालिक उसमें से प्रतिवर्ष, एक निश्चित मात्रा, ईश्वरीय मार्ग में ख़र्च न करे। यह ईश्वरीय मार्ग क्या है? ईश्वर तो सर्वसम्पन्न है, उसको न तुम्हारा माल पहुँचता है, न वह इसकी ज़रूरत रखता है। उसका मार्ग बस यही है कि तुम स्वयं अपने समाज के तंगहाल (ग़रीब) लोगों को ख़ुशहाल बनाने की कोशिश करो और ऐसे कल्याणकारी कार्यों को बढ़ावा दो जिनका लाभ सम्पूर्ण समाज को प्राप्त हो। ख़ुदा का फ़रमान है—

> ''यह सदक़ा तो वास्तव में ग़रीबों, मुहताजों और उन लोगों के लिए है जो इसके काम पर नियुक्त हों, और उनके लिए जिनके दिलों को आकृष्ट करना अभीष्ट हो और यह (क़ैदख़ानों से) गर्दनों को छुड़ाने

और क़र्ज़दारों की मदद करने और अल्लाह के मार्ग में और मुसाफ़िरों की सहायता में इस्तेमाल करने के लिए हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-9 तौबा, आयत-60)

यह मुसलमानों की कोऑपरेटिव सोसाइटी है, यह उनकी बीमा कम्पनी है। यह उनका प्रॉविडेंट फ़ंड (भविष्य-निधि) है। यह उन लोगों के लिए वित्तीय सहायता-कोष है जो जीविकोपार्जन कर सकने में असमर्थ हैं। यह उनके असमर्थ, विकलांगों, बीमारों, अनाथों, विधवाओं और बेरोज़गारों के भरण-पोषण का साधन है। यह इस बात की गॉरंटी है कि मुस्लिम-समाज में कोई व्यक्ति जीवन की मूल आवश्यकताओं से वंचित न रहेगा। सबसे बढ़कर यह वह चीज़ है जो मुसलमान को दुनिया की चिन्ता से मुक्त कर देती है। इसका सीधा-सादा-सा सिद्धान्त यह है कि आज तुम मालदार हो तो दूसरों की मदद करो। कल तुम निर्धन हो गए तो दूसरे तुम्हारी मदद करेंगे। तुम्हें यह चिन्ता करने की ज़रूरत ही नहीं कि ग़रीब हो गए तो क्या होगा? मर गए तो बीवी-बच्चों का क्या हाल होगा? कोई विपत्ति आ पड़ी, बीमार हो गए, घर में आग लग गई, बाढ़ आ गई, दिवालिया हो गए तो इन विपदाओं से कैसे निपटेंगे? यात्रा के दौरान रक़म न हुई तो क्या होगा? इन सब चिन्ताओं से सिर्फ़ ज़कात तुम्हें सदा के लिए चिन्तामुक्त कर देती है। तुम्हारा काम केवल इतना है कि अपनी जमा राशि में से एक भाग से अल्लाह की 'बीमा कम्पनी' में अपना बीमा करा लो। इस समय इस दौलत की तुम्हें आवश्यकता नहीं है, यह उनके काम आएगी जो इसके ज़रूरतमन्द हैं। कल जब तुम ज़रूरतमन्द होगे या तुम्हारे बच्चे ज़रूरतमन्द होंगे तो न केवल तुम्हारा दिया हुआ माल, बल्कि आवश्यकता होने पर उससे भी अधिक तुम्हें वापस मिल जाएगा।

यहाँ फिर पूँजीवाद और इस्लाम के नियम व सिद्धान्त एक-दूसरे से बिलकुल उलट दिखाई पड़ते हैं। पूँजीवाद की माँग यह है कि धन को जमा किया जाए और उसको बढ़ाने के लिए ब्याज पर ऋण दिए जाएँ, ताकि इन नालियों के द्वारा आपपास के लोगों का धन भी सिमटकर इस 'झील' में जमा हो जाए। इस्लाम इसके विपरीत यह हुक्म देता है कि प्रथमतः धन को

रोककर न रखा जाए, और यदि रुक गया हो तो उस तालाब में से ज़कात की नहरें निकाल दी जाएँ, ताकि जो खेत सूखे हैं, उनको पानी पहुँचे और आसपास की पूरी ज़मीन लहलहा उठे। पूँजीवादी व्यवस्था में धन का आदान-प्रदान पूरी तरह रुक जाता है और इस्लाम में पूर्णतः गतिमान। पूँजीवाद के तालाब से पानी लेने के लिए ज़रूरी है कि स्वयं आपका पानी वहाँ पहले से मौजूद हो, वरना आप एक बून्द वहाँ से नहीं ले सकते। इसकी तुलना में इस्लाम के पानी के स्टॉक का नियम यह है कि जिसके पास ज़रूरत से ज़्यादा पानी हो वह उसमें डाल दे। और जिसको ज़रूरत हो वह उसमें से ले ले। स्पष्ट है कि ये दोनों तरीक़े अपनी प्रकृति की दृष्टि से एक-दूसरे के विपरीत हैं और एक ही अर्थव्यवस्था में इन दोनों को इकट्ठा करना वास्तव में दो बिलकुल उलट चीज़ों को इकट्ठा करना है, जिसकी कल्पना कोई भी विवेकशील व्यक्ति नहीं कर सकता।

5. उत्तराधिकार का नियम

अपनी आवश्यकताओं पर ख़र्च करने और ईश्वरीय मार्ग में दान करने और ज़कात (अनिवार्य दान) अदा करने के पश्चात् यदि दौलत किसी एक स्थान पर सिमटकर रह गई हो तो उसको समाज में फैलाने के लिए फिर एक तरीक़ा इस्लाम ने अपनाया है, वह है इस्लाम का उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम। इस क़ानून का मंशा यह है कि जो व्यक्ति माल छोड़कर मर जाए, चाहे वह माल अधिक हो या कम, उसको टुकड़े-टुकड़े करके निकट और दूर के सभी रिश्तेदारों में एक नियमबद्ध तरीक़े से फैला दिया जाए। अगर कोई उत्तराधिकारी न हो या न मिले तो 'ले पालक' बनाने का अधिकार देने के स्थान पर उसका माल मुसलमानों के बैतुलमाल (सार्वजनिक कोष) में दे देना चाहिए, ताकि उससे पूरी जनता लाभान्वित हो। उत्तराधिकार का यह क़ानून जैसा इस्लाम में है किसी और आर्थिक प्रणाली में नहीं पाया जाता। दूसरी आर्थिक प्रणालियों का झुकाव इस ओर है कि जो धन एक व्यक्ति ने इकट्ठा किया हो, वह उसके बाद भी एक या कुछ व्यक्तियों के पास सिमटा रहे। मगर इस्लाम धन के सिमटने को पसन्द ही नहीं करता। वह इसको फैलाना चाहता है ताकि धन का संचार सरलता से होता रहे।

6. युद्ध में प्राप्त माल का वितरण

इस मामले में भी इस्लाम ने वही उद्देश्य सामने रखा है। युद्ध में शत्रुओं का जो माल सैनिकों के हाथ आए, उसके सम्बन्ध में नियम यह है कि उसके पाँच भाग किए जाएँ। चार भाग फ़ौज में वितरित कर दिए जाएँ, एक भाग सार्वजनिक कार्यों के लिए रख लिया जाए। ख़ुदा का निर्देश है—

> "और तुम्हें मालूम हो कि जो कुछ ग़नीमत (शत्रु-धन) के रूप में प्राप्त माल हाथ आए उसका पाँचवाँ भाग अल्लाह और उसके रसूल और नातेदारों और अनाथों और मुहताजों और मुसाफ़िरों के लिए है।" (क़ुरआन, सूरा-8 अनफ़ाल, आयत-41)

अल्लाह और रसूल (सल्ल॰) के हिस्से से तात्पर्य उन सार्वजनिक उद्देश्यों एवं कार्यों से है जिनकी निगरानी अल्लाह और रसूल (सल्ल॰) के आदेशों द्वारा इस्लामी शासन को सौंपी गई है। ख़ुदा के पैग़म्बर (सल्ल॰) के रिश्तेदारों का हिस्सा इसलिए रखा गया था कि ज़कात में उनका हिस्सा न था, ख़ुदा के पैग़म्बर (सल्ल॰) इस हिस्से में से अपने रिश्तेदारों के हक़ अदा करते थे, बाद में यह हिस्सा भी पहली मद में ख़र्च किया जाने लगा।

इसके बाद ख़ुमुस (युद्ध में प्राप्त धन का पाँचवें हिस्से) में तीन वर्गों का हिस्सा विशेष तौर पर रखा गया है। समाज के अनाथ बच्चे, ताकि उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था हो और उनको जीवन के संघर्ष में भाग लेने के योग्य बनाया जाए। मसाकीन (बहुत ग़रीब) जिनमें विधवाएँ, अपंग, बीमार और निर्धन सब शामिल हैं। मुसाफ़िर (यात्री) का हक़ रखकर इस्लाम ने अपनी नैतिक शिक्षा में लोगों में यात्रियों की सेवा की भावना पैदा की है और साथ ही ज़कात, दान तथा युद्ध में प्राप्त माल में यात्रियों का हिस्सा रखा है। यह वह चीज़ है जिसने इस्लामी देशों में व्यापार, पर्यटन, शिक्षा, अनुसंधान तथा हालात की जानकारी के लिए लोगों की आवाजाही में बड़ी आसानी पैदा की।

युद्ध के जीतने पर जो भूमि तथा धन इस्लामी स्टेट के हाथ आए उनके लिए यह क़ानून बनाया गया कि उनको पूर्णरूप से शासन के आधिपत्य में

रखा जाए। अल्लाह का फ़रमान है–

"जो कुछ भी अल्लाह अपने रसूल की ओर बस्तियों के बाशिन्दों से 'फ़य' पलटा दे वह अल्लाह और रसूल और रसूल के रिश्तेदारों और अनाथों और मुहताजों और मुसाफ़िरों के लिए है, ताकि वह केवल तुम्हारे मालदारों के बीच ही चक्कर न खाता रहे। ...और इसमें उन ग़रीब मुहाजिरों का भी हिस्सा है जो अपने घरों और जायदादों से बेदख़ल करके निकाल दिए गए हैं...और उन लोगों का भी हिस्सा है जो पहले ही से हिजरत के घर (मदीना) में बसे हुए थे,...(और वह उन लोगों के लिए भी है) जो इनके बाद आए हैं।"

(क़ुरआन, सूरा-59 हश्र, आयतें-7 से 10)

क़ुरआन की इन आयतों में न केवल उन मदों की व्याख्या की गई है जिनमें फ़य (युद्ध में प्राप्त धन) का माल ख़र्च किया जाएगा, बल्कि साफ़ तौर पर उस उद्देश्य की ओर भी इशारा कर दिया गया है जिसको इस्लाम ने फ़य (युद्ध में प्राप्त धन) के माल के बँटवारे ही के लिए नहीं, वरन् अपनी पूरी आर्थिक व्यवस्था में अपने समक्ष रखा है, अर्थात् "धन तुम्हारे धनवानों में ही चक्कर न लगाता रहे।" यह विषय जिसे क़ुरआन ने एक छोटे वाक्यांश में व्यक्त किया है, इस्लामी अर्थव्यवस्था का मूलाधार है।

7. ख़र्च में बीच की राह अपनाने का आदेश

एक ओर इस्लाम ने धन को सभी लोगों में फैलाने तथा मालदारों के धन में असम्पन्न को हिस्सेदार बनाने का प्रबन्ध किया है तो दूसरी ओर वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने ख़र्च में बीच की राह अपनाने और किफ़ायत से काम लेने का आदेश देता है, ताकि लोग अपने आर्थिक संसाधनों के प्रयोग में न्यूनाधिक की नीति को अपनाकर धन का सन्तुलन न बिगाड़ दें। पवित्र क़ुरआन की शिक्षा इस सम्बन्ध में यह है–

"न तो अपना हाथ गरदन से बाँधे रखो (कि कुछ ख़र्च ही न करो) और न बिलकुल ही खुला छोड़ दो कि निन्दित और निस्सहाय बनकर रह जाओ।" (क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयत-29)

"(अल्लाह के नेक बन्दे वे हैं) जो ख़र्च करते हैं तो न फ़ुज़ूलख़र्ची करते हैं और न कंजूसी से काम लेते हैं, बल्कि इनका ख़र्च दोनों सीमाओं के बीच सन्तुलन पर स्थिर रहता है।"

(क़ुरआन, सूरा-25 फ़ुरक़ान, आयत-67)

इस शिक्षा का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप जो कुछ ख़र्च करे, अपनी आय की सीमा में रहकर ख़र्च करे। न इतना हद से आगे बढ़ जाए कि उसका ख़र्च उसकी आमदनी से बढ़ जाए, यहाँ तक कि वह अपनी फ़ुज़ूलख़र्चियों के लिए लोगों के आगे हाथ फैलाता फिरे, दूसरों की कमाई पर डाका मारे, वास्तविक आवश्यकता न होने पर भी ऋण ले, फिर या तो उनके ऋण मार खाए या उनकों अदा करते-करते अपने संसाधान समाप्त करके अपने स्वयं के करतूतों के नतीजे में ग़रीबों और निर्धनों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाए। दूसरी ओर न इतना कंजूस बन जाए कि उसके संसाधन उसे जितना ख़र्च करने की अनुमति देते हों, उतना भी ख़र्च न करे। फिर अपनी हद में रहकर ख़र्च करने का यह अर्थ नहीं कि अगर वह अच्छी आमदनी रखता है तो अपनी सारी कमाई केवल अपने ऐश-आराम और बड़ा बनने पर ख़र्च कर दे; जबकि उसके सगे-सम्बन्धी, मित्र और पड़ोसी कठिनाई का जीवन व्यतीत कर रहे हों। इस प्रकार के स्वार्थपरक ख़र्च को भी इस्लाम फ़ुज़ूलख़र्ची में गिनता है—

"अपने नातेदारों को उनका हक़ दो और निर्धन और मुसाफ़िर को उनका हक़। फ़ुज़ूलख़र्ची न करो, फ़ुज़ूलख़र्ची करनेवाले शैतानों के भाई हैं, और शैतान अपने रब का नाशुक्रा है।"

(क़ुरआन, सूरा-17 बनी-इसराईल, आयतें-26, 27)

इस्लाम ने इस सम्बन्ध में केवल नैतिक शिक्षा देकर ही नहीं छोड़ दिया है, बल्कि उसने कंजूसी और फ़ुज़ूलख़र्ची की अतिवादी (Extreme) परिस्थितियों को रोकने के लिए क़ानून भी बनाए हैं और ऐसे सभी तरीक़ों को समाप्त करने का प्रयास किया है जो संसाधनों के वितरण (Distribution of Wealth) के सन्तुलन को बिगाड़नेवाले हैं। वह जुए को अवैध ठहराता है। शराब और व्यभिचार से रोकता है। खेल-तमाशे की बहुत-सी आदतों को, जो समय और धन को बर्बाद करते हैं, मना करता है। गाने-बजाने की स्वाभाविक पसन्द

को उस सीमा तक पहुँचने से रोकता है जहाँ इनसान का उसमें तल्लीन होने पर आध्यात्मिक व नैतिक पतन होने के साथ आर्थिक जीवन भी अव्यवस्था पैदा करने का कारण हो सकता है और वास्तव में हो भी जाता है। इस्लाम कला और सुन्दरता के स्वाभाविक रुझान को भी एक सीमा में रखता है। मूल्यवान पहनावे, जवाहरात के गहने, सोने-चाँदी के बर्तन, तस्वीरों तथा मूर्तियों की मनाही-सम्बन्धी पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) के जो आदेश हैं, उन सबमें एक बड़ी मस्लहत यह भी है कि जो धन तुम्हारे बहुत-से ग़रीब भाइयों की ऐसी ज़रूरतों, जिनको अनदेखा नहीं किया जा सकता, की पूर्ति कर सकता है, उनको जीवन के साधन प्रदान कर सकता है, उस धन को केवल अपने शरीर और अपने घर की सजावट पर ख़र्च कर देना 'अच्छी पसन्द' नहीं, बल्कि पत्थरदिली और खुदग़र्ज़ी है। अतः नैतिक नियमों तथा क़ानूनी आदेशों दोनों तरीक़ों से इस्लाम ने इनसान को जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया है, वह ऐसा सादा जीवन है कि उसमें इनसान की आवश्यकताओं और इच्छाओं का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं हो सकता कि वह एक औसत दर्जे की आमदनी में गुज़र-बसर न कर सके और उसे अपनी सीमा से बाहर निकलकर दूसरों की कमाई में हिस्सा लड़ाने की ज़रूरत पड़े। अगर वह औसत से अधिक आय रखता हो तो अपना सारा माल स्वयं अपने आपपर ख़र्च कर दे और अपने उन भाइयों की मदद न कर सके जो औसत से कम आय रखते हों।

एक प्रश्न

उपर्युक्त पंक्तियों में इस्लाम की पूरी आर्थिक व्यवस्था को आपके सामने प्रस्तुत कर दिया गया है। अब इस चित्र को बार-बार देखिए और बताइए कि इसमें आप ब्याज को किस स्थान पर खपा सकते हैं? उसकी आत्मा को देखिए, उसकी बनावट को देखिए, उसके अंगों तथा उनके पारस्परिक सम्पर्क एवं सम्बन्ध को देखिए। इसमें जो अर्थ तथा उद्देश्य निहित हैं उनको देखिए। इसमें कहाँ ब्याज-सम्बन्धी लेन-देन की गुंजाइश या ज़रूरत है? कहाँ पूँजीवादी प्रणाली की संस्थाओं में से किसी संस्था को रखने की जगह या उसकी आवश्यकता है? यदि उत्तर नहीं में है, और निश्चित रूप

से नहीं में होना चाहिए, तो उसके पश्चात् पुनः एक गहन दृष्टि इस तस्वीर पर डालिए और बताइए कि इसमें नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण में कहाँ आपको खोट दिखाई पड़ता है? नैतिकता तथा सभ्यता की उच्च स्थिति आप छोड़ना चाहते हैं तो छोड़िए। अगर अर्थव्यवस्था ही इनसानी जीवन में एक महत्वपूर्ण चीज़ है तो शुद्ध आर्थिक हैसियत ही से देख लीजिए। क्या इस आर्थिक प्रणाली के नियमों तथा प्रमाण की शक्ति से कोई ऐसा संशोधन प्रस्तुत किया जा सकता है जिसके अभाव में यह प्रणाली स्वयं में दोषयुक्त हो? इससे बेहतर कोई दूसरी आर्थिक प्रणाली उपलब्ध कराई जा सकती है, जिसमें व्यक्ति एवं समाज के मध्य अधिकारों तथा हितों का इससे अधिक सन्तुलन स्थापित किया गया हो तथा व्यक्तिगत एवं सामूहिक कल्याण को एक जैसे स्तर पर रखा गया हो? यदि यह नहीं हो सकता और हम विश्वास से कहते हैं कि कदापि नहीं हो सकता तो क्या बुद्धि एवं विवेक की यही माँग है कि आप एक ओर तो अपनी कमज़ोरी से इस बेहतरीन आर्थिक प्रणाली को छोड़कर दुनिया की सबसे निकृष्ट, सबसे अधिक हानिकारक आर्थिक प्रणाली को अपनाएँ और फिर उसपर लज्जित भी न हों और अपनी अन्तरात्मा पर पाप का भार भी न रहने दें और उस पाप को पुण्य, बुराई को अच्छाई घोषित करने के लिए क़ुरआन के अंशों और पैग़म्बर (सल्ल॰) के कथनों में कुतर्क करें और इस शैतानी आर्थिक प्रणाली के सभी दोषपूर्ण तत्वों को लेकर इस्लाम की पवित्र एवं शुद्ध आर्थिक प्रणाली में संलग्न करने का प्रयास करें, इसका ध्यान रखे बग़ैर कि इस्लाम के सिद्धान्त और उसकी आत्मा और उसकी प्रकृति इन चीज़ों के कितनी अधिक प्रतिकूल हो? पहले तो आप डॉक्टर के बताए हुए नुस्ख़े को फेंक देते हैं, उसके बताए स्वास्थ्य की रक्षा के उपाय अपनाने से इनकार करते हैं, जो परहेज़ की उसने सलाह दी है उसको नहीं अपनाते, फिर जब रोग बढ़ जाता है और मृत्यु सामने दिखाई देने लगती है तो उसी डॉक्टर से कहते हैं कि जिस अनाड़ी के नुस्ख़ों ने मुझे बीमार कर डाला है, उसी का पर्चा तू मुझे अपने हाथ से लिखकर दे। जिस परहेज़ से रोका है, उसकी अनुमति दे, जिस चीज़ को तूने विष बताया था, उसको कह दे कि अमृत है। आख़िर इस मूर्खता की कोई सीमा भी है!

ब्याज का निषेध-1
औचित्यहीनता

पिछले अध्याय 'इस्लामी आर्थिक प्रणाली और उसके अंग' में जो संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उसमें चार चीज़ें आधार की हैसियत रखती हैं–

1. स्वतंत्र अर्थव्यवस्था–कुछ प्रतिबन्धों के साथ।
2. ज़कात की अनिवार्यता।
3. उत्तराधिकार का क़ानून।
4. ब्याज का निषेध।

इनमें पहली चीज़ को सैद्धान्तिक रूप में वे सब लोग स्वीकार करने लगे हैं जिनके सामने स्वच्छन्द पूँजीवाद के दोष और कम्युनिज़्म एवं फ़ासिज़्म की ख़राबियाँ सामने आ चुकी हैं। इसके सम्बन्ध में कुछ संशय अवश्य हो सकते हैं, परन्तु हमें उम्मीद है कि हमारी पुस्तक 'इस्लामी अर्थव्यवस्था' का अध्ययन उन्हें दूर करने में सहायक होगा।

ज़कात की अनिवार्यता का महत्व बड़ी हद तक दुनिया के सामने स्पष्ट हो चुका है। किसी सोचने-समझनेवाले व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं है कि साम्यवाद, फ़ासीवाद तथा पूँजीवादी समाजवाद तीनों ने अब तक सोशल बीमा की जो विशाल योजना बनाई है, ज़कात उससे बहुत अधिक बड़े पैमाने पर सामूहिक बीमे की व्यवस्था करती है।

मीरास या उत्तराधिकार के क़ानून के सम्बन्ध में इस्लाम ने सारी दुनिया के क़ानूनों से हटकर जो मार्ग अपनाया है, पहले उसकी हिकमतों से

अधिकांश लोग अनजान थे और अनेक प्रकार की आपत्तियाँ प्रस्तुत करते रहते थे, परन्तु धीरे-धीरे सारी दुनिया इसी की ओर पलट रही है।

मगर इसके चौथे अंग को समझने में वर्तमान युग के लोगों को अत्यन्त कठिनाई आ रही है। पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली ने गत शताब्दी में यह विचार बड़ी गहरी जड़ों के साथ जमा दिया है कि ब्याज का निषेध मात्र एक भावनात्मक चीज़ है और यह कि ब्याजरहित ऋण देना केवल एक नैतिक सुविधा है जिसको मज़हब ने अनावश्यक रूप से उछाल दिया है, अन्यथा दलीलों के आधार पर ब्याज एक उचित चीज़ है तथा आर्थिक रूप से वह न केवल आलोचना योग्य नहीं है, बल्कि व्यावहारिक रूप से लाभदायक तथा ज़रूरी भी है। इस ग़लत विचार और इसके ज़ोरदार प्रचार का प्रभाव यह है कि आधुनिक पूँजीवादी प्रणाली के सभी दोषों पर दुनिया के आलोचकों की नज़र पड़ती है, परन्तु इन सबसे बड़ी बुराई पर किसी की दृष्टि नहीं पड़ती, यहाँ तक कि साम्यवादी देश भी अपने यहाँ पूँजीवाद की इस पाप-जननी को इंग्लैंड और अमेरिका की भाँति ही पाल-पोस रहे हैं। हद यह है कि स्वयं मुसलमान भी जिनको दुनिया में ब्याज का सबसे बड़ा दुश्मन होना चाहिए पश्चिम के इस गुमराह करनेवाले प्रोपेगंडे से बुरी तरह प्रभावित हो चुके हैं। हमारे कुछ मज़हबी लोगों में यह भ्रान्ति फैल गई है कि ब्याज आपत्तिजनक चीज़ अगर है भी तो केवल उस रूप में जबकि वह उन लोगों से वुसूल किया जाए जो अपनी व्यक्तिगत ज़रूरत के लिए ऋण लेते हैं। रहे वे ऋण जो कारोबार हेतु लिए गए हों, उनपर ब्याज का लेन-देन जाइज़ व उचित और हलाल व पवित्र है और उसमें धर्म, नैतिकता, बुद्धि और आर्थिक सिद्धान्त किसी पहलू से कोई दोष नहीं है। इनसे आगे बढ़कर प्राचीन तरीक़ों के साहूकारों के द्वारा ब्याज को मौजूदा ज़माने की बैंकिंग को एक अलग चीज़ समझा जाता है और यह सोच पैदा की जाती है कि इन बैंकों का 'साफ़-सुथरा' कारोबार तो बिलकुल एक पवित्र चीज़ है जिससे हर प्रकार का सम्बन्ध रखा जा सकता है। इस आधार पर अब ब्याज की धार्मिक परिभाषा बदलने के प्रयास जारी हैं और कहा जा रहा है कि क़ुरआन में जिस ब्याज को हराम (अवैध घोषित) किया गया है, उसकी परिभाषा में यह ब्याज सिरे

से आता ही नहीं। इन सभी भ्रान्तियों के चक्कर से जो लोग निकल गए हैं, वे भी यह समझने में कठिनाई महसूस कर रहे हैं कि ब्याज को क़ानून द्वारा बन्द कर देने के पश्चात् वर्तमान युग में वित्तीय प्रबन्धन किस प्रकार हो सकता है।

आगामी पन्नों में हम इन्हीं मामलों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

सबसे पहले जिस बात को निश्चित होना चाहिए, वह यह है कि क्या वास्तव में ब्याज एक उचित चीज़ है? क्या एक व्यक्ति बुद्धि एवं तर्क की दृष्टि से अपने दिए हुए ऋण पर ब्याज की माँग करने का उचित अधिकार रखता है? और क्या यह न्यायसंगत है कि जो व्यक्ति किसी से ऋण ले, वह उसको मूलधन के अतिरिक्त कुछ-न-कुछ ब्याज भी दे? यह इस चर्चा का सबसे पहला प्रश्न है, जिसके तय हो जाने से आधी से अधिक चर्चा आप-से-आप तय हो जाती है, क्योंकि यदि ब्याज एक न्यायोचित चीज़ है तो फिर उसको प्रतिबन्धित करने के मुक़द्दमे में कोई जान बाक़ी नहीं रहती, और यदि ब्याज को बुद्धि और न्याय के आधार पर उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता तो फिर यह बात विचारणीय हो जाती है कि इनसानी समाज में इस अनुचित चीज़ को अस्तित्व में रखने पर क्यों ज़ोर दिया जाए?

ब्याज के पक्ष में दिए गए तर्कों का विश्लेषण

1. जोखिम उठाने एवं त्याग करने का प्रतिफल : ब्याज के औचित्य के पक्ष में सबसे पहले जो तर्क दिया जाता है, वह यह है कि जो व्यक्ति किसी दूसरे को अपना बचत किया हुआ धन उधार देता है, वह एक ख़तरा मोल लेता है और त्याग करते हुए अपनी आवश्यकता को पीछे करके दूसरे की आवश्यकता को पूरा करता है। जिस माल से वह स्वयं फ़ायदा उठा सकता था, उसे दूसरे के हवाले करता है। उधार लेनेवाले ने अगर उधार इसलिए लिया है कि अपनी कोई व्यक्तिगत आवश्यकता उससे पूरी करे तो उसे इस माल का किराया अदा करना चाहिए, जिस प्रकार वह मकान या फ़र्नीचर या सवारी का किराया देता है। यह किराया उस जोखिम का प्रतिफल भी होगा जो ऋणदाता ने अपना माल उसके हवाले करने में उठाया और इस बात का

प्रतिफल भी होगा कि उसने वैध तरीक़ों से कमाए अपने धन को स्वयं प्रयोग में लाने के बजाय दूसरे को प्रयोग करने के लिए दे दिया। अगर क़र्ज़दार ने यह ऋण किसी उत्पादक क्रिया (कारोबार) में लगाने हेतु लिया है तो फिर ऋणदाता उसपर ब्याज माँगने का और भी अधिकारी बन जाता है, क्योंकि जब क़र्ज़दार उसके दिए हुए धन से फ़ायदा उठा रहा है तो आख़िर ऋणदाता इस फ़ायदे में से क्यों न हिस्सा प्राप्त करे?

इस दलील का यह भाग बिलकुल ठीक है कि ऋण देनेवाला अपना माल दूसरे को देने में जोखिम में पड़ जाता है तथा अपने धन का त्याग भी करता है, परन्तु इसका मतलब यह कैसे हो गया कि जोखिम और त्याग की क़ीमत पाँच या दस प्रतिशत वार्षिक या अर्द्धवार्षिक या मासिक वुसूल करने का अधिकार ऋणदाता को प्राप्त हो गया। ऋण (क़र्ज़) की वापसी न होने के जोखिम के आधार पर जो अधिकार उचित तरीक़े से उसे पहुँचते हैं, वे इससे अधिक कुछ नहीं है कि ऋणी की कोई चीज़ गिरवी रख ली जाए, अथवा ज़मानती माँग लिया जाए या फिर यह जोखिम ही न उठाए और क़र्ज़ देने से इनकार कर दे। मगर जोखिम न तो व्यापारिक सामान है, जिसकी कोई क़ीमत हो और न कोई मकान या फ़र्नीचर या सवारी है कि उसका कोई किराया हो। जहाँ तक त्याग का मामला है तो वह उसी समय तक त्याग है जब तक कि वह कारोबार न हो। आदमी को त्याग करना हो तो त्याग ही करे और इस नैतिक कार्य के लिए नैतिक लाभ पर ही सन्तुष्ट रहे। यदि वह प्रतिफल की बात करता है तो फिर त्याग की बात न कहे, बल्कि सीधे-सीधे सौदागरी करे और यह बताए कि वह क़र्ज़ के मामले में मूलधन के अतिरिक्त एक और रक़म जो वह माहवार या सालाना वुसूल करता है उसका वह किस आधार पर हक़दार है?

क्या यह क्षतिपूर्ति (हर्जाना) है? मगर जो रक़म उसने उधार दी है वह उसकी ज़रूरत के अतिरिक्त थी और उसे वह स्वयं प्रयोग में नहीं ला रहा था। इसलिए यहाँ कोई क्षति ही नहीं हुई कि इस ऋण पर कोई हर्जाना लेने का अधिकारी होता।

क्या यह किराया है? मगर किराया तो उन चीज़ों का हुआ करता है

जिन्हें किराएदार के लिए उपलब्ध कराने एवं ठीक रखने पर आदमी अपना समय, मेहनत और माल ख़र्च करता है। ऐसी चीज़ें किराएदार के प्रयोग करने से ख़राब होती हैं, टूटती-फूटती हैं और उनकी क़ीमत में कमी होती रहती है। यह परिभाषा इस्तेमाल की चीज़ों जैसे मकान, फ़र्नीचर और सवारी आदि पर तो सही जान पड़ती है और उन्हीं का किराया एक उचित चीज़ है, परन्तु यह परिभाषा किसी भी तरह उपभोग की वस्तुओं जैसे गेहूँ, फल आदि पर लागू नहीं होती और न रुपये पर जो केवल वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय का माध्यम है, इसलिए इन चीज़ों का 'किराया' होने का कोई अर्थ ही नहीं है।

अधिक-से-अधिक एक ऋणदाता जो कुछ कह सकता है, वह यह है कि मैं दूसरे व्यक्ति को अपने माल से फ़ायदा उठाने का अवसर दे रहा हूँ, इसलिए मुझे इस फ़ायदे में से हिस्सा मिलना चाहिए। यह एक उचित माँग है, मगर प्रश्न यह है कि जिस ग़रीब आदमी ने अपने भूखे बच्चों का पेट भरने के लिए तुमसे पचास रुपये उधार लिए, क्या वास्तव में वह तुम्हारे दिए हुए अनाज या रुपये से ऐसा ही 'फ़ायदा' उठा रहा है कि तुम दो प्रतिशत मासिक के हिसाब से अपना हिस्सा पाने के पात्र हो? फ़ायदा तो वह बेशक उठा रहा है, इसका मौक़ा भी निस्सन्देह तुमने ही उसे दिया है, परन्तु बुद्धि, न्याय, अर्थशास्त्र और कारोबारी उसूल आख़िर किस दृष्टि से इस 'फ़ायदे' में से एक वित्तीय क़ीमत वुसूल करोगे और क़र्ज़ माँगनेवाले की मुसीबत जितनी ज़्यादा हो, उतनी ही यह 'क़ीमत' बढ़ जाए और उसकी मुसीबत की अवधि जितनी लम्बी होती जाए, तुम्हारे दिए हुए लाभ के अवसर की क़ीमत भी महीनों और वर्षों के हिसाब से उसपर बढ़ती और चढ़ती चली जाए। तुम अगर इतना बड़ा दिल नहीं रखते कि एक ज़रूरतमन्द, परेशान इनसान को अपनी आवश्यकता से अधिक माल उसे दे दो, तो अधिक-से-अधिक तुम्हारे लिए उचित यह है कि अपनी रक़म की वापसी का इत्मीनान करके उसे क़र्ज़ दे दो और यदि तुम्हारे दिल में क़र्ज़ देने की गुंजाइश नहीं है तो आख़िरी चीज़ यह हो सकती है कि तुम उसे कुछ भी न दो। मगर व्यापार का यह कौन-सा उचित तरीक़ा है कि एक ग़रीब इनसान की मुसीबत और कष्ट तुम्हारे लिए

लाभ कमाने का अवसर बन जाए, भूखे पेट और मरने की कगार पर पहुँचे रोगी तुम्हारे लिए रुपया लगाने (Investment) की जगह बन जाएँ और इनसानी कष्ट जितने बढ़ें, उतने ही तुम्हारे लिए 'लाभ' की सम्भावनाएँ भी बढ़ती चली जाएँ।

'लाभ उठाने का अवसर देना' अगर किसी स्थिति में कोई क़ीमत रखता है तो वह स्थिति यह है कि रुपया लेनेवाला उसे किसी कारोबार में लगाए। इस परिस्थिति में धन देनेवाला यह कहने का हक़ रखता है कि मुझे उस फ़ायदे में से हिस्सा मिलना चाहिए जो मेरे धन से दूसरा व्यक्ति उठा रहा है। परन्तु सब जानते हैं कि पूँजी अकेले कोई लाभ पैदा करने की योग्यता नहीं रखती, बल्कि वह लाभ केवल उस स्थिति में पैदा करती है जब इनसानी श्रम (मेहनत) तथा बुद्धि उसपर काम करे। फिर इनसानी श्रम और बुद्धि भी उसके साथ लगते ही तुरन्त लाभ उत्पन्न करना आरम्भ नहीं कर देते, बल्कि उसके लाभकारी होने के लिए पर्याप्त अवधि चाहिए होती है। फिर उसका लाभकारी होना निश्चित भी नहीं है, इसमें हानि और दिवालिया तक होने का ख़तरा होता है। लाभ होने की स्थिति में भी पेशगी तय नहीं किया जा सकता कि उसमें किस समय कितना लाभ होगा। अब यह बात किस तरह न्यायोचित हो सकती है कि धन देनेवाले का लाभ उसी समय से आरम्भ हो जाए जबकि इनसानी मेहनत और दिमाग़ ने उस धन को अभी हाथ ही लगाया हो? और उसके 'लाभ' की दर तथा मात्रा भी निर्धारित हो, जबकि पूँजी के साथ मेहनत के मिलने से लाभ पैदा होना न तो निश्चित है और न ही मालूम है कि इससे वास्तव में कितना लाभ उत्पन्न होगा।

न्यायोचित बात यह है कि जो व्यक्ति अपनी बचत किसी लाभ देनेवाले काम में लगाना चाहता हो, उसे मेहनत करनेवालों के साथ साझेदारी का समझौता करना चाहिए तथा लाभ-हानि में एक निर्धारित अनुपात में हिस्सेदार बन जाना चाहिए। लाभ कमाने का यह आख़िर कौन-सा उचित तरीक़ा है कि मैं एक व्यक्ति का साझी बनने के बजाय उसे सौ रुपये उधार दूँ और उससे कहूँ कि क्योंकि तू इस रक़म से फ़ायदा उठाएगा, इसलिए तुझपर मेरा यह हक़ है कि मुझे एक रुपया मासिक उस वक़्त तक देता रह

जब तक मेरी रक़म तेरे कारोबार में इस्तेमाल हो रही है। सवाल यह है कि जब तक इस पूँजी को प्रयोग में लगाकर उसकी मेहनत ने लाभ पैदा करना न आरम्भ किया हो तब तक वह कौन-सा लाभ मौजूद है जिसमें से हिस्सा माँगने का मुझे हक़ पहुँचता हो? अगर वह व्यक्ति कारोबार में फ़ायदे के बजाय नुक़सान उठाए तो मैं किस तर्क और इनसाफ़ के आधार पर मासिक 'लाभ' वसूल करने का हक़ रखता हूँ? और यदि उसका लाभ एक रुपया मासिक से कम रहे तो मुझे एक रुपया मासिक लेने का क्या हक़ है? और यदि उसका कुल लाभ एक रुपया ही हो क्या यह न्यायसंगत है कि जिसने महीने भर तक अपना समय, श्रम, योग्यता तथा व्यक्तिगत संसाधन सब कुछ ख़र्च किया वह तो कुछ न पाए और मैं जो केवल सौ रुपये देकर अलग हो गया था, उसका पूरा लाभ ले उड़ूँ? एक बैल भी अगर तेली के लिए दिन भर कोल्हू चलाता है तो कम-से-कम उससे चारा माँगने का हक़ तो ज़रूर रखता है, मगर यह ब्याज एक कारोबारी आदमी को ऐसा बैल बना देता है जिसे कोल्हू तो दिन भर मेरे लिए चलाना चाहिए और चारा कहीं और से खाना चाहिए।

अगर कारोबारी आदमी का लाभ उस निर्धारित रक़म से ज़्यादा भी हो जो ऋणदाता ने ब्याज के रूप में ऋणी के ज़िम्मे लगाई थी, तब भी अक़्ल, इनसाफ़, व्यापार के उसूल और आर्थिक नियम किसी आधार पर भी इस बात को उचित साबित नहीं किया जा सकता कि व्यापारी उत्पादक, किसान और दूसरे सभी लोग जो उत्पादन के साधन हैं और समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपना वक़्त लगाते हैं, मेहनत करते हैं, दिमाग़ लड़ाते हैं, अपनी शारीरिक शक्तियों को झोंक देते हैं, उन सब लोगों का लाभ तो अनिश्चित तथा सन्देह में हो, मगर केवल एक आदमी का लाभ निश्चित तथा निर्धारित हो, जिसने मात्र अपनी बचत की हुई रक़म उधार दे दी है। उन तमाम लोगों के लिए तो नुक़सान का जोखिम भी हो, मगर इसके लिए शुद्ध लाभ की गॉरन्टी हो। उन सबके लाभ की दर बाज़ार की क़ीमतों के साथ घटती-बढ़ती हो, मगर एक व्यक्ति (पूँजीपति) जो लाभ अपने लिए तय कर चुका है, वह उसे निरन्तर मासिक और वार्षिक मिलता रहे।

(2) समय की मुहलत देने का प्रतिफल

दूसरा वर्ग थोड़ी पोज़ीशन बदलकर कहता है कि वह चीज़ (ब्याज) समय की 'मुहलत' है जो ऋणदाता अपनी पूँजी और उसके प्रयोग का अवसर ऋणी को देता है। यह मुहलत स्वयं एक क़ीमत रखती है और मुहलत की यह अवधि जितनी लम्बी होगी, उसकी क़ीमत भी बढ़ती चली जाएगी। जिस दिन से आदमी रुपया लेकर काम में लगाता है, उस दिन तक जब तक उस पूँजी के द्वारा तैयार किया हुआ माल बाज़ार में पहुँचे और क़ीमत लाए एक-एक क्षण व्यापारी के लिए क़ीमती है। यह मुहलत अगर उसे न मिले और बीच ही में पूँजी उससे वापस ले ली जाए तो उसका कारोबार चल ही नहीं सकता। इसलिए यह समय रुपया लेकर कारोबार में लगानेवाले के लिए एक क़ीमत रखता है, जिससे वह लाभ उठा रहा है। फिर क्यों न रुपया देनेवाला इस फ़ायदे में से हिस्सा ले? वक़्त की कमी या अधिकता के साथ ऋणी के लिए लाभ की सम्भावनाएँ भी घटती-बढ़ती हैं। फिर क्यों न ऋणदाता वक़्त की कमी या अधिकता को ध्यान में रखकर पूँजी की क़ीमत तय करे!

मगर यहाँ फिर यह सवाल पैदा होता है कि धन देनेवाले को यह कैसे ज्ञात हो गया कि जो व्यक्ति काम में लगाने के लिए उससे धन ले रहा है, वह अवश्य ही लाभ कमाएगा और कभी हानि नहीं उठाएगा? फिर यह उसने कैसे जान लिया कि उसका लाभ भी इतने फ़ीसद होगा? फिर उसके पास यह जानने का क्या साधन है कि वह समय जिसके दौरान वह ऋणी को अपने रुपये के इस्तेमाल की मुहलत दे रहा है, अवश्य ही हर महीने और हर साल इतना लाभ लाता रहेगा। इसलिए उसकी मासिक या सालाना क़ीमत यह होनी चाहिए? इन प्रश्नों का कोई सन्तोषप्रद उत्तर ब्याज समर्थकों के पास नहीं है। इसलिए बात फिर वहीं आ जाती है कि कारोबारी मामलों में अगर कोई चीज़ न्यायसंगत है तो वह केवल लाभ-हानि में भागीदारी और आनुपातिक हिस्सेदारी है, न कि ब्याज जो एक पूर्व निर्धारित दर से लागू कर दिया जाए।

(3) पूँजी के लाभ देने के गुण में हिस्सा

एक और वर्ग कहता है कि लाभ कमाना पूँजी का विशेष गुण है। इसलिए एक व्यक्ति का दूसरे को उपलब्ध कराए गए धन को प्रयोग में लाना स्वयं इस बात का अधिकार देता है कि पूँजीपति ब्याज की माँग करे और ऋण लेनेवाला ब्याज का भुगतान करे। पूँजी में यह शक्ति है कि वस्तुओं के उत्पादन तथा उपलब्धता में सहायक हो। पूँजी की सहायता से अधिक मात्रा में ज़्यादा अच्छा माल तैयार होता है और ऊँची क़ीमत देनेवाली मंडियों तक पहुँच सकता है, वरना कम मात्रा और घटिया सामान तैयार होगा और ऐसे स्थान पर नहीं पहुँच सकता जहाँ अच्छी क़ीमत मिल सके। यह सुबूत है इस बात का कि लाभ देने का गुण पूँजी में रखा गया है। इसलिए मात्र उसका प्रयोग ही ब्याज का औचित्य उत्पन्न कर देता है।

लेकिन यह दावा सिरे से ग़लत है कि पूँजी में 'लाभ कमाने' का कोई निजी गुण पाया जाता है। यह गुण तो उसमें केवल उस समय पैदा होता है जब आदमी उस पूँजी को लेकर 'उत्पादन' की किसी प्रक्रिया में लगाए। केवल इस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि चूँकि रुपया लेनेवाला उससे एक फ़ायदेमन्द काम ले रहा है, इसलिए उसे 'लाभ' में से हिस्सा देना चाहिए। मगर जो व्यक्ति बीमारी के इलाज के लिए या किसी मृतक के अन्तिम संस्कार के लिए क़र्ज़ ले रहा है, उसके पास यह धन कौन-सा 'आर्थिक मूल्य' पैदा करता है, जिसमें हिस्सा बटाने का अधिकार ऋणदाता को पहुँचता हो?

फिर जो पूँजी लाभकारी कार्यों में लगाई जाती है, वह भी ज़रूरी नहीं कि अधिक क़ीमत पैदा करे। इसलिए यह दावा नहीं किया जा सकता कि लाभ कमाना उसका निजी गुण है। कभी-कभी किसी कार्य में पूँजी की अधिकता से लाभ बढ़ने के स्थान पर और घट जाता है, यहाँ तक उलटे नुक़सान की नौबत आ जाती है। आजकल व्यापारिक जगत् पर जो उतार-चढ़ाव के दौरे पड़ते रहते हैं, उनकी वजह यही तो है कि जब पूँजीपति व्यवसाय में बहुत अधिक पूँजी का निवेश करते चले जाते हैं और उत्पादन बढ़ने लगता है तो क़ीमतें गिरने लगती हैं और उत्पादन की अधिकता के

साथ ही मूल्यों की गिरावट उस हद को पहुँच जाती है कि पूँजी के निवेश से किसी लाभ की आशा नहीं रहती।

पूँजी में लाभ कमाने का कोई गुण यदि है भी तो यह बहुत-सी अन्य चीज़ों पर निर्भर है, जैसे पूँजी को प्रयोग में लानेवालों की मेहनत, योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा अनुभव, पूँजी के निवेश की अवधि में अनुकूल आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ, प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षा और ऐसे ही कारक लाभदायकता की अनिवार्य शर्तें हैं। इनमें से कोई एक भी न पाई जाए तो कभी-कभी पूँजी में लाभ कमाने की क्षमता समाप्त हो जाती है, बल्कि उलटे नुक़सान में बदल जाती है, परन्तु ब्याज पर पूँजी उपलब्ध करानेवाला न तो खुद इन शर्तों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी लेता है और न यही मानता है कि अगर इनमें से किसी शर्त के पूरा न होने के कारण उसकी पूँजी लाभ न कमा सके तो वह कोई ब्याज लेने का हक़दार न होगा। वह तो इस बात का दावेदार है कि उसकी पूँजी का इस्तेमाल ही स्वयं एक निश्चित दर से ब्याज का हक़ पैदा करता है, चाहे वास्तव में कोई 'लाभदायकता' प्रकट हुई हो या न हुई हो।

अगर यह मान भी लिया जाए कि पूँजी के स्वभाव में ही लाभदायकता मौजूद है जिसके आधार पर पूँजी देनेवाला लाभ में हिस्सा पाने का अधिकारी है तब भी वह कौन-सा गणित है जिसके द्वारा निश्चित रूप से यह बात ज्ञात हो जाती है कि आजकल पूँजी की लाभदायकता इतनी है, इसलिए जो लोग धन उधार लेकर इस्तेमाल करें, उनको अनिवार्यतः इस दर से ब्याज का भुगतान करना चाहिए? और यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि वर्तमान में उस दर का निर्धारण किसी तरीक़े से सम्भव है तो भी हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि जिस पूँजीपति ने सन् 1949 में किसी व्यापारिक संस्था को 10 साल के लिए और किसी दूसरी संस्था को 20 साल के लिए वर्तमान में प्रचलित ब्याज दर पर ऋण दिया था, उसके पास यह जानने का कौन-सा साधन था कि आगामी दस या बीस वर्षों के दौरान पूँजी की लाभदायकता अवश्य ही आज के स्तर पर रहेगी? विशेषकर जबकि 1959 में बाज़ार की ब्याज दर 1949 से पूर्णतया भिन्न हो तथा 1969 में उससे भी अधिक

अन्तर आ जाए तब किस तर्क से उस व्यक्ति को उचित ठहराया जाएगा जिसने एक संस्था से दस साल के लिए और दूसरी संस्था से बीस साल के लिए 1949 की दर के अनुसार पूँजी के सम्भावित लाभ में से अपना हिस्सा पूरे तौर पर निर्धारित करा लिया था?

(4) समय पसन्दगी का प्रतिफल

ब्याज के औचित्य पर जो आख़िरी दलील दी गई है, उसमें ज़रा ज़्यादा चतुराई दिखाई गई है। उसका सार यह है—इनसान स्वभावतः वर्तमान के फ़ायदे, सुख और सन्तुष्टि को भविष्य के फ़ायदे और सुख पर वरीयता (Preference) देता है। भविष्य जितना दूर हो, उतने ही उसके फ़ायदे और सुख संदिग्ध होते हैं और उसी हिसाब से आदमी की दृष्टि में उनकी क़ीमत कम होती चली जाती है। भविष्य की तुलना में वर्तमान की इस पसन्द के कई कारण हैं—

1. भविष्य का अन्धेरे में होना और जीवन का अनिश्चित होना, जिसके कारण भविष्य के फ़ायदे भी सन्देह में होते हैं और उनकी कोई छवि भी आदमी के दिमाग़ में नहीं होती। इसके विपरीत आज जो नक़द लाभ प्राप्त हो रहा है, वह निश्चित भी है और उसको आदमी अपने सिर की आँखों से देख भी रहा है।

2. जो व्यक्ति इस समय ज़रूरतमन्द है, उसकी आवश्यकता का इस समय पूरा हो जाना उसके लिए इससे बहुत अधिक क़ीमत रखता है कि भविष्य में किसी अवसर पर उसको वह चीज़ मिले जिसका सम्भव है कि वह उस समय ज़रूरतमन्द हो और सम्भव है कि न हो।

3. जो इस समय मिल रहा है वह व्यावहारिक रूप से काम का है और प्रयोग में लाने योग्य है, इसलिए वह उस माल पर बड़ाई रखता है जो भविष्य में किसी समय प्राप्त होगा।

इन कारणों से वर्तमान का नक़द लाभ भविष्य के संदिग्ध लाभ पर वरीयता रखता है। इसलिए आज जो व्यक्ति एक रक़म उधार ले रहा है, उसकी क़ीमत लाज़िमी तौर पर उस रक़म से ज़्यादा है जो वह कल ऋणदाता

को देगा और ब्याज वह मूल्य है जो रक़म वापसी के समय मूल के साथ सम्मिलित होकर उसकी क़ीमत को उस रक़म के बराबर करती है जो ऋण देते समय ऋणदाता ने उसको दी थी। उदाहरण के लिए उसे ऐसे समझें कि एक व्यक्ति साहूकार के पास आता है और उससे सौ रुपये क़र्ज़ माँगता है। साहूकार उससे यह बात तय करता है कि आज जो सौ रुपये वह उसको दे रहा है, उनके बदले में वह एक साल बाद उससे 103 रुपये लेगा। इस मामले में वर्तमान के 100 रुपयों का विनिमय भविष्य के 103 रुपयों से हो रहा है और तीन रुपये उस अन्तर के बराबर हैं जो वर्तमान के माल और भविष्य के माल की मनोवैज्ञानिक (न कि आर्थिक) क़ीमत के बीच पाया जाता है। जब तक यह तीन रुपये एक साल बाद के सौ रुपयों के साथ सम्मिलित न होंगे, उनकी क़ीमत इन सौ रुपयों के बराबर न होगी जो ऋण देते समय ऋणदाता ने ऋणी को दिए थे।

यह दलील जिस होशियारी से दी गई है, उसकी दाद न देना ज़्यादती है। मगर वास्तव में इसमें वर्तमान और भविष्य की मनोवैज्ञानिक क़ीमत का जो अन्तर बताया गया है, वह एक भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

क्या वास्तव में इनसान की प्रकृति वर्तमान को भविष्य की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण और अधिक क़ीमती समझती है? अगर यह बात है तो क्या कारण है कि अधिकतर लोग अपनी पूरी कमाई को आज ही ख़र्च कर डालना उचित नहीं समझते, बल्कि उसके एक भाग को भविष्य के लिए बचाकर रखना पसन्द करते हैं? शायद आपको एक प्रतिशत भी ऐसे लोग नहीं मिलेंगे जो भविष्य की चिन्ता से बेपरवाह हों और आज के सुख और मज़े पर अपना पूरा माल उड़ा देना पसन्द करते हों। कम-से-कम 99 प्रतिशत लोगों का हाल तो यही है कि वे आज की ज़रूरतों को रोककर कल के लिए कुछ-न-कुछ बचत करके रखना चाहते हैं, क्योंकि भविष्य में सामने आनेवाली बहुत-सी सम्भावित आवश्यकताएँ और संकटकालीन परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनका काल्पनिक नक़्शा आदमी की दृष्टि में उन हालात की तुलना में अधिक बड़ा और महत्वपूर्ण होता है जिनसे वह इस समय जैसे-तैसे गुज़र रहे हैं। फिर वह सारी दौड़-धूप और संघर्ष जो एक इनसान वर्तमान काल में

करता है, उसका उद्देश्य इसके अतिरिक्त और क्या होता है कि उसका आनेवाला कल बेहतर हो? आज आदमी जो परिश्रम करता है, वह इसी लिए करता है कि आनेवाले दिन आज से बेहतर व्यतीत हों। कोई मूर्ख-से-मूर्ख आदमी भी बड़ी मुश्किल से ऐसा मिलेगा जो इस क़ीमत पर अपने वर्तमान को अच्छा बनाना चाहता हो कि उसका भविष्य ख़राब हो जाए या कम-से-कम आज से बदतर हो। अज्ञानता या नादानी में आदमी ऐसा कर ले या किसी सामयिक इच्छा के दबाव से प्रभावित होकर ऐसा कर गुज़रे तो बात दूसरी है, वरना सोच-समझकर तो कोई व्यक्ति भी इस रवैये को उचित नहीं ठहरा सकता।

फिर अगर थोड़ी देर के लिए इस दावे को ऐसे ही मान भी लिया जाए कि इनसान वर्तमान की सन्तुष्टि के लिए भावी हानि को गवारा करना ठीक समझता है, तब भी वह तर्क सही नहीं बैठता जिसकी बुनियाद इस दावे पर रखी गई है। ऋण लेते समय जो मामला ऋणदाता और ऋणी के बीच तय हुआ था, उसमें आपके कथनानुसार वर्तमान के 100 रुपयों की क़ीमत एक साल बाद के 103 रुपयों के बराबर थी, परन्तु अब जो एक साल बाद ऋणी अपना ऋण चुकाने गया तो वास्तविक स्थिति यह थी कि वर्तमान के 103 रुपये गत वर्ष के 100 रुपये के बराबर हो गए और यदि पहले साल ऋणी ऋण न चुका सका तो दूसरे साल के समापन पर गत वर्षों के 100 रुपयों की क़ीमत वर्तमान के 106 रुपयों के बराबर हो गई। क्या वास्तव में भूतकाल और वर्तमान में मूल्यों का यही अनुपात है और क्या यह उसूल भी सही है कि जितना-जितना भूतकाल पुराना होता जाए, उसकी क़ीमत भी वर्तमान की तुलना में बढ़ती चली जाए? क्या पहले गुज़री हुई आवश्यकताओं की सन्तुष्टि आपके लिए इतनी मूल्यवान है कि जो रुपया आपको एक लम्बे समय पहले मिला था जिसको ख़र्च करके आप भूल चुके हैं, वह आपके लिए जीवन के हर क्षण के बीतने पर वर्तमान के रुपये से अधिक मूल्यवान होता चला जाए, यहाँ तक कि अगर आपको सौ रुपये इस्तेमाल किए हुए पचास साल बीत चुके हों तो अब उनकी क़ीमत 250 रुपये के बराबर हो जाए।

यह है उन दलीलों की पूरी दुनिया जो ब्याज खाने के पक्षधर इसको

विवेक और न्याय की दृष्टि से एक जाइज़ और उचित चीज़ सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त आलोचनात्मक विश्लेषण से आपको ज्ञात हो गया कि इस अपवित्र चीज़ का 'उचित' होने से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी भारी तर्क से भी ब्याज के लेने और देने का औचित्य प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परन्तु घोर विडम्बना है कि जो चीज़ इतनी 'अनुचित' थी, पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने इसको अपने सर्वमान्य सिद्धान्तों में शामिल कर लिया और ब्याज के उचित होने को एक अकाट्य सत्यता तथा वास्तविकता के रूप में पूर्णरूप से अंगीकार कर लिया।

ब्याज-दर

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि ब्याज का कोई औचित्य नहीं, फिर भी पाश्चात्य विद्वानों ने ब्याज को एक सर्वमान्य चीज़ स्वीकार करके सारी चर्चा इस बात पर केन्द्रित कर दी कि ब्याज की दर 'उचित' होनी चाहिए। आधुनिक युग के पाश्चात्य साहित्य में यह चर्चा तो आपको कम ही मिलेगी कि ब्याज अपने आपमें कोई लेने और देने योग्य चीज़ है भी या नहीं? हाँ, जो कुछ भी वार्ता आप उनके यहाँ देखेंगे वह अधिकांशतः इस बात से सम्बन्धित है कि अमुक ब्याज-दर अनुचित और 'सीमा से बढ़ी हुई' है, इसलिए आपत्तिजनक है और अमुक दर 'उचित' है, इसलिए स्वीकार्य है।

परन्तु क्या वास्तव में कोई ब्याज-दर 'उचित' है? थोड़े समय के लिए हम इस प्रश्न को छोड़ देते हैं कि जिस चीज़ का स्वयं उचित होना सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसकी दर के उचित या अनुचित होने की चर्चा की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न को छोड़कर हम केवल यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सी ब्याज-दर है जिसको 'स्वाभाविक' और 'उचित' कहा जाता है? और किसी दर के लिए उचित या अनुचित होने का मानक क्या है? और क्या वास्तव में दुनिया के ब्याज के कारोबार में ब्याज-दर का निर्धारण विवेकपूर्ण (Rational) आधार पर हो रहा है?

इस प्रश्न की जब हम खोज-बीन करते हैं तो पहली बात जो हमारे सामने आती है, वह यह है कि 'उचित ब्याज-दर' नाम की कोई चीज़ दुनिया

में कभी नहीं पाई गई है। विभिन्न दरों को अलग-अलग समय में उचित ठहराया गया और बाद में वही दरें अनुचित घोषित कर दी गई हैं, बल्कि एक ही समय में एक स्थान पर उचित दर एक है और दूसरे स्थान पर दूसरी है। प्राचीन हिन्दू युग में कौटिल्य के अनुसार 15 से 60 प्रतिशत वार्षिक ब्याज-दर पूर्णरूप से उचित समझी जाती थी और यदि जोखिम अधिक हो तो दर इससे भी अधिक हो सकती थी।

अब तनिक यह विचार कीजिए कि क्या वास्तव में कोई ब्याज-दर स्वाभाविक एवं उचित हो भी सकती है? इस प्रश्न पर जब आप विचार करेंगे तो आप स्वयं समझ लेंगे कि कोई ब्याज-दर अगर उचित रीति से निर्धारित हो सकती थी तो केवल उस स्थिति में जबकि उस लाभ की मात्रा निश्चित होती (या हो सकती) जो एक व्यक्ति ऋण पर ली गई रक़म से प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए अगर यह बात निश्चित जो जाती कि एक वर्ष तक 100 रुपये का प्रयोग 25 रुपये के बराबर लाभ देता है तो यह तय किया जा सकता था कि इस फ़ायदे में से 5 रुपया या 2.5 रुपया या 1.25 रुपया उस व्यक्ति का स्वाभाविक एवं उचित भाग है, जिसकी रक़म वर्ष के दौरान इस्तेमाल की गई है। मगर स्पष्ट है कि इस तरह से पूँजी का लाभ न तो निश्चित किया गया है और न किया जा सकता है और न पूँजी बाज़ार में ब्याज-दर के तय करने में कभी इस बात का ख़याल रखा जाता है कि रक़म उधार लेनेवाले को इससे कितना लाभ होगा, बल्कि कोई लाभ होगा भी या नहीं। व्यवहार में जो होता है वह यह है कि व्यक्तिगत ऋणों में ब्याज-दर ऋणी की मजबूरी के आधार पर तय होती है और कारोबारी ऋणों में ब्याज-दर का उतार-चढ़ाव कुछ दूसरे कारकों से होता है, जिसका विवेक तथा इनसाफ़ से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

व्यक्तिगत ऋणों में एक महाजन सामान्यतया यह देखता है कि जो व्यक्ति उससे ऋण लेने आया है, वह कितना ग़रीब है, कितना मजबूर है और ऋण न मिलने की स्थिति में कितना दुख झेलेगा। इन्हीं चीज़ों के आधार पर वह तय करता है कि मुझे इससे कितना ब्याज माँगना चाहिए। यदि वह कम ग़रीब है, रक़म कम माँग रहा है और बहुत अधिक परेशान नहीं है तो दर

कम होगी। इसके विपरीत वह जितना ज़्यादा दरिद्र और ज़रूरतमन्द होगा उतनी ही दर बढ़ती जाएगी, यहाँ तक कि भूखे आदमी का बच्चा बीमारी से मर रहा हो तो 400 या 500 प्रतिशत ब्याज भी उसके मामले में कुछ 'अनुचित' नहीं है।

रहा दूसरे प्रकार का वित्तीय बाज़ार (अर्थात् कारोबारी) तो उसमें ब्याज-दर का निर्धारण और उसका उतार-चढ़ाव जिन आधारों पर होता है, उनके बारे में अर्थशास्त्रियों के दो मत हैं–

माँग और पूर्ति के प्रभाव

एक वर्ग कहता है कि माँग और पूर्ति (Demand and Supply) का नियम इसका आधार है। जब पूँजी की माँग करनेवाले कम और उसकी पूर्ति करनेवाले अधिक हो जाते हैं तो ब्याज की दर घटने लगती है, यहाँ तक कि जब वह बहुत कम हो जाती है तो लोग इस मौक़े से फ़ायदा उठाकर कारोबार में लगाने लगते हैं और पूँजी की माँग बढ़ने लगती है, जबकि पूँजी की पूर्ति कम होने लगती है। परिणाम यह होता है कि ब्याज की दर चढ़ने लगती है और उस सीमा को पहुँच जाती है कि पूँजी की माँग रुक जाती है।

विचार कीजिए! पूँजीपति यह नहीं करता कि सीधे तरीक़े से व्यापारी (या उद्यमी) के साथ साझेदारी का अनुबन्ध करे और न्यायपूर्ण ढँग से उसके वास्तविक लाभ में अपना हिस्सा लगाए। इसके बजाए वह एक अनुमान लगाता है कि व्यवसाय में इस व्यक्ति को कम-से-कम इतना लाभ होगा, इसलिए जो रक़म मैं इसे दे रहा हूँ, उसपर मुझे इतना ब्याज मिलना चाहिए। दूसरी ओर व्यावसायी भी अनुमान लगाता है कि जो रक़म मैं इससे ले रहा हूँ, वह मुझे ज़्यादा-से-ज़्यादा इतना लाभ दे सकती है, इसलिए ब्याज उससे अधिक नहीं होना चाहिए। दोनों अनुमान से काम लेते हैं। पूँजीपति सदैव लाभ का पूर्वानुमान बढ़ा-चढ़ाकर करता है और व्यावसायी लाभ की आशा के साथ हानि की आशंकाओं को भी सामने रखता है। इस कारण दोनों के बीच सहयोग के बजाए टकराव की स्थिति बनी रहती है। जब व्यावसायी लाभ की आशा में पूँजी लगाना चाहता है तो पूँजीपति अपनी पूँजी की क़ीमत बढ़ाने लगता है, यहाँ तक कि इस ब्याज-दर पर रुपया उधार लेकर कारोबार

में लगाना 'लाभप्रद' नहीं रहता। इस प्रकार पूँजी का निवेश बन्द हो जाता है और आर्थिक प्रगति रुक जाती है और 'मन्दी' छा जाती है। ऐसे में पूँजीपति जब यह देखता है कि स्वयं उसकी तबाही निकट है तो वह ब्याज-दर घटाने लगता है और व्यापारियों को उधार रक़म कारोबार में लगाने से लाभ की उम्मीद हो जाती है। इस तरह व्यापार और उद्योग में फिर पूँजी आने लगती है। स्पष्ट है कि अगर उचित शर्तों पर पूँजी और कारोबारियों के बीच उचित सहभागिता होती तो सन्तुलित ढंग से दुनिया की अर्थव्यवस्था संचालित हो सकती थी। परन्तु जब क़ानून ने पूँजीपति के लिए ब्याज का द्वार खोल दिया तो पूँजी और व्यवसाय के पारस्परिक सम्बन्धों में सट्टे और जुए का अंश सम्मिलित हो गया और ब्याज-दर की कमी-बेशी ऐसे जुएबाज़ी के तरीक़ों से होने लगी जिनके परिणामस्वरूप पूरी दुनिया सदैव आर्थिक संकट से घिरी रहती है।

तरलता या नक़दी

दूसरा वर्ग ब्याज-दर के निर्धारण की दलील यह देता है कि जब पूँजीपति अपनी पूँजी को अपने इस्तेमाल योग्य (अर्थात् नक़द) रखना अधिक पसन्द करता है तो वह ब्याज-दर बढ़ा देता है और जब उसकी यह इच्छा कम हो जाती है तो ब्याज-दर भी घट जाती है। रहा यह प्रश्न कि पूँजीपति धन नक़द रखने को पसन्द क्यों करते हैं? तो इसका उत्तर वे यह देते हैं कि इसके अनेक कारण हैं। कुछ-न-कुछ रक़म व्यक्तिगत तथा व्यापारिक आवश्यकताओं के लिए रखना ज़रूरी होता है और कुछ अप्रत्याशित घटनाओं एवं ज़रूरतों के लिए रखना पड़ता है—जैसे किसी व्यक्तिगत मामले में असाधारण ख़र्च या किसी अच्छे सौदे का अचानक सामने आ जाना। इन दो कारणों के अतिरिक्त तीसरा और अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि पूँजीपति यह पसन्द करता है कि भविष्य में किसी समय क़ीमतें कम होने या ब्याज-दर बढ़ने की स्थिति से लाभ उठाने के लिए उसके पास नक़द धन-राशि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहे। अब प्रश्न पैदा होता है कि इन कारणों से अपने लिए इस्तेमाल योग्य रखने की जो इच्छा पूँजीपति के दिल में पैदा होती है, क्या वह घटती-बढ़ती रहती है जिसका प्रभाव ब्याज-दर में उतार-

चढ़ाव के रूप में प्रकट होता है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि हाँ, विभिन्न व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से कभी यह इच्छा बढ़ जाती है, इसलिए पूँजीपति ब्याज को बढ़ा देता है और व्यापारिक कार्यों की ओर पूँजी का बहाव कम हो जाता है। कभी इस इच्छा में कमी आ जाती है, इसलिए पूँजीपति ब्याज-दर को घटा देता है और उसके घटने के कारण लोग व्यापार एवं उद्योग में लगाने के लिए अधिक पूँजी उधार लेने लगते हैं।

इस सुन्दर दिखनेवाली दलील के पीछे झाँककर देखिए कि क्या चीज़ छिपी है। जहाँ तक घरेलू और व्यापारिक आवश्यकता का सम्बन्ध है, उनके आधार पर सामान्य अथवा असामान्य सब प्रकार की परिस्थितियों में पूँजीपति की नक़दी की इच्छा मुश्किल से 5 प्रतिशत पूँजी को प्रभावित करती है। इसलिए पहले दो कारणों को महत्व देना ठीक नहीं है। अपनी 95 प्रतिशत पूँजी जिस आधार पर वह कभी रोकता, कभी पूँजी बाज़ार की ओर बहाता है, वह वास्तव में तीसरा कारण है, और जब उसका विश्लेषण होगा तो उसके अन्दर से यह असलियत प्रकट होगी कि पूँजीपति ऊँचे दर्जे की स्वार्थी मानसिकता के साथ दुनिया के और अपने देश और समाज के हालात को देखता रहता है। वह चाहता है कि उसके पास पूँजी की तरलता का हथियार हर समय मौजूद रहे जिसके द्वारा वह सोसाइटी की कठिनाइयों, आपदाओं और मुसीबतों का अनुचित लाभ उठा सके और समाज की परेशानियों में वृद्धि करके अपनी ख़ुशहाली को बढ़ा सके। इसलिए वह सट्टेबाज़ी के उद्देश्य से पूँजी को अपने पास रोक लेता है, ब्याज-दर बढ़ा देता है, व्यापार और उत्पादन की ओर पूँजी का बहाव यकायक बन्द कर देता है और समाज पर उस भयंकर आपदा का द्वार खोल देता है जिसका नाम मन्दी (Depression) है। फिर जब वह देखता है कि इस माध्यम से जो कुछ हरामख़ोरी वह कर सकता था कर चुका, आगे अधिक लाभ की आशा नहीं है, बल्कि नुक़सान की सीमा निकट है तो पूँजी को तरल रखने की इच्छा उसके गन्दे मन में कम हो जाती है और वह सस्ती ब्याज-दर का लालच देकर व्यापारियों को सार्वजनिक सूचना देने लगता है कि आओ, मेरे पास बहुत-सा धन तुम्हारे प्रयोजन के लिए पड़ा हुआ है।

ब्याज-दर की यही दो दलीलें आधुनिक युग के आर्थिक विशेषज्ञों ने प्रस्तुत की हैं और अपनी जगह दोनों ठीक हैं, मगर प्रश्न यह है कि उनमें से जो भी कारण हो, उससे आख़िर एक उचित और स्वाभाविक दर किस प्रकार निर्धारित होती या हो सकती है? या तो हमें 'विवेक', 'उचित' और 'स्वाभाविक' के अर्थ बदलने पड़ेंगे या फिर मानना पड़ेगा कि ब्याज स्वयं जिस प्रकार अनुचित चीज़ है, उसी प्रकार से उसकी दर भी अनुचित कारणों से निर्धारित होती और घटती-बढ़ती है।

ब्याज का 'आर्थिक लाभ' और उसकी ज़रूरत

इसके बाद ब्याज के पक्षधर यह चर्चा छेड़ देते हैं कि ब्याज एक आर्थिक आवश्यकता है और कुछ लाभ ऐसे हैं जो उसके बग़ैर प्राप्त नहीं हो सकते। इस दावे के पक्ष में वे जो तर्क देते हैं उनका सार यह है–

(1) इनसानी अर्थव्यवस्था पूँजी जमा करने पर निर्भर है और पूँजी जमा करना सम्भव नहीं जब तक कि लोग अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को न रोकें और अपनी सम्पूर्ण आय को अपने ऊपर व्यय न करें, बल्कि कुछ-न-कुछ बचत भी करते रहा करें। यही एक तरीक़ा है पूँजी इकट्ठा होने का। परन्तु एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को रोकने और बचत करने के लिए क्यों तैयार हो जब तक कि उसे इस आत्म-संयम और त्याग का कोई प्रतिफल न मिले। ब्याज ही वह प्रतिफल है जिसकी आशा लोगों को धन बचाने पर तैयार करती है। अगर ब्याज को तुम उसे अवैध घोषित कर दिया जाएगा तो अतिरिक्त आय की बचत का सिलसिला बन्द हो जाएगा जो पूँजी-निर्माण का वास्तविक माध्यम है।

(2) व्यापार की ओर पूँजी के बहाव का आसान तरीक़ा यह है कि लोगों के लिए अपनी जमा पूँजी को ब्याज पर चलाने का द्वार खुला रहे। इस प्रकार ब्याज ही का लालच उनसे धन जमा कराता है, फिर ब्याज का ही लालच उनको इसपर तैयार करता रहता है कि अपनी बचत की रक़मों को बेकार न डाल रखें, बल्कि कारोबारी लोगों के हवाले कर दें

और एक निर्धारित दर के अनुसार ब्याज वुसूल करते रहें। इस दरवाज़े को बन्द करने का अर्थ यह है कि न केवल धन इकट्ठा करने का एक महत्वपूर्ण प्रेरक ग़ायब हो जाए, बल्कि जो थोड़ी-बहुत पूँजी जमा हो वह भी व्यापार में निवेश के लिए उपलब्ध न हो सके।

(3) ब्याज केवल यही नहीं करता कि पूँजी का निर्माण कराता और उसे व्यवसाय की ओर खींच लाता है, बल्कि वही पूँजी के अलाभकारी प्रयोग को रोकता भी है। ब्याज-दर ही यह प्रबन्ध करती है कि पूँजी कारोबार में निवेश के विभिन्न विकल्पों में से उन विकल्पों की ओर जाए जो सबसे अधिक लाभकारी हों। इसके अतिरिक्त कोई अन्य पद्धति ऐसी समझ में नहीं आती जो विभिन्न व्यावहारिक विकल्पों में से लाभकारी को अलाभकारी से और अधिक लाभकारी को कम लाभकारी से अलग छाँट सके और लाभकारिता की ओर पूँजी को दिशा देती रहे। यदि आप ब्याज को हटा देंगे तो परिणाम यह होगा कि एक तो लोग बड़ी लापरवाही से पूँजी का प्रयोग करने लगेंगे और फिर लाभ-हानि का ध्यान किए बग़ैर हर प्रकार के उलटे-सीधे कामों में उसे लगाना शुरू कर देंगे।

(4) ऋण मानवीय जीवन की आवश्यकताओं में से है। आम लोगों को भी अपने निजी मामलों में इसकी ज़रूरत होती है और कारोबारी लोगों को भी इसकी आवश्यकता रहती है और हुकूमतों का भी काम इसके बग़ैर नहीं चल सकता। इतनी अधिक और बड़े पैमाने पर ऋण की उपलब्धता दान (Charity) के बल पर कहाँ तक हो सकती है? अगर आप पूँजीपतियों को ब्याज का लालच न देंगे और इस बात को सुनिश्चित नहीं करेंगे कि उनके मूलधन के साथ ब्याज भी मिलता रहेगा तो वे कभी ऋण देने को तैयार नहीं होंगे और इस प्रकार ऋणों की उपलब्धता रुक जाने का बहुत बुरा प्रभाव पूरी आर्थिक प्रक्रिया पर पड़ेगा। एक ग़रीब आदमी को अपने बुरे वक़्त पर महाजन से क़र्ज़ मिल तो जाता है। ब्याज का लालच न हो तो उसका मुर्दा बेकफ़न ही पड़ा रह जाए और कोई उसकी तरफ़ मदद का हाथ न बढ़ाए। एक व्यापारी को तंगी की स्थिति में ब्याज पर क़र्ज़ तुरन्त मिल जाता है और उसका काम चलता रहता

है। यह दरवाज़ा बन्द हो जाए तो न जाने कितनी बार दीवाला निकलने की नौबत आ जाए। ऐसा ही मामला हुकूमतों का भी है कि उनकी ज़रूरतें भी ब्याज में लिए गए क़र्ज़ से पूरी होती रहती हैं वरना करोड़ों रुपये उपलब्ध करानेवाले दानी आख़िर उन्हें रोज़-रोज़ कहाँ मिल सकते हैं?

क्या ब्याज वास्तव में ज़रूरी और फ़ायदेमन्द है?

आइए, अब हम इनमें से एक-एक 'फ़ायदे' और 'ज़रूरत' का विश्लेषण करें कि वास्तव में ब्याज में कोई फ़ायदा और ज़रूरत है भी या यह सब कुछ शैतानी भ्रमजाल है। पहली भ्रान्ति यह है कि अर्थव्यवस्था के लिए बचत और धन-संचय को एक ज़रूरी और फ़ायदेमन्द चीज़ समझा जाता है, जबकि मामला इसके विपरीत है। वास्तव में सम्पूर्ण आर्थिक प्रगति और ख़ुशहाली इस बात पर निर्भर करती है कि सोसाइटी कुल मिलाकर जितना कुछ उत्पादन करे, वह शीघ्र बिक जाए, ताकि उत्पादन और उसकी खपत का चक्र सन्तुलन और तीव्र गति से चलता रहे। यह बात केवल उसी स्थिति में सम्भव है जबकि लोग साधारणतया इस बात के अभ्यस्त हों कि आर्थिक दौड़-धूप के बीच जो दौलत उनके हिस्से में आए, उसे ख़र्च करते रहें और इतने विशाल हृदयवाले हों कि अगर उनके पास उनकी अपनी आवश्यकता से अधिक दौलत आ गई हो तो सोसाइटी के कम भाग्यशाली लोगों की ओर हस्तान्तरित कर दिया करें, ताकि वे भी आसानी से अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़रीद सकें। मगर आप इससे उलट लोगों को यह सिखाते हैं कि जिसके पास आवश्यकता से अधिक दौलत पहुँची हो, वह कंजूसी करके (जिसे आप 'संयम' और 'त्याग' आदि कहते हैं) अपनी उचित आवश्यकताओं का बड़ा भाग पूरा करने से रुक जाएँ और इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करने का प्रयास करे। आपके अनुसार इसका लाभ यह होगा कि पूँजी इकट्ठी होकर व्यापार और व्यवसाय के लिए उपलब्ध होगी। मगर वास्तव में इसका नुक़सान यह होगा कि जो माल इस समय बाज़ार में मौजूद है, उसका एक बड़ा भाग पड़ा रह जाएगा, क्योंकि जिन लोगों में क्रय-शक्ति पहले से कम थी, वे सामर्थ्य न होने के कारण

सामान ख़रीद नहीं सकें और जो अपनी आवश्यकतानुसार ख़रीद सकते थे, उन्होंने सामर्थ्य के होते हुए भी ख़रीदारी नहीं की, जिनके पास अतिरिक्त क्रय-शक्ति थी, उन्होंने उस धन को दूसरों तक हस्तान्तरित करने के बजाय अपने पास रोककर रख लिया। अब यदि प्रत्येक आर्थिक चक्र में यही होता रहे कि आवश्यकतानुसार और आवश्यकता से अधिक क्रय-शक्ति रखनेवाले लोग अपनी इस शक्ति के बड़े भाग को न तो स्वयं वस्तुओं को ख़रीदने में प्रयुक्त करें और न कम क्रय-शक्ति रखनेवालों को दें, बल्कि उसे रोकते और इकट्ठा करते चले जाएँ तो इसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक चक्र में सोसाइटी के उत्पादन का बड़ा भाग विक्रय होने (बिकने) से रुक जाएगा। रोज़गार में कमी होगी। रोज़गार की कमी से आय प्रभावित होगी जिसका प्रभाव उत्पत्ति और माँग की कमी के रूप में सामने आएगा। इस प्रकार कुछ लोगों की दौलत को इकट्ठा करने की प्रवृत्ति बहुत-से लोगों की ग़रीबी का कारण बनेगी और अन्ततः यह चीज़ उन पूँजीपतियों के लिए भी वबाल बन जाएगी, क्योंकि जिस दौलत को वह ख़रीदारी में लगाने के बजाय समेट-समेटकर अधिक पैदावार में प्रयुक्त करेंगे, उसकी खपत कहाँ होगी?

अगर गहन विचार किया जाएगा तो मालूम होगा कि वास्तविक आर्थिक आवश्यकता उन कारणों और तत्वों को दूर करना है जिनके आधार पर लोग अपनी आय को ख़र्च करने के स्थान पर रोककर रखने की ओर झुकाव रखते हैं। सम्पूर्ण सोसाइटी का भला इसी में है कि एक ओर तो ऐसे सामूहिक प्रबन्ध कर दिए जाएँ जिनकी सहायता से कठिन समय में उन्हें आर्थिक मदद मिल जाया करे, ताकि लोगों को अपनी आमदनियाँ जमा करने की आवश्यकता ही प्रतीत न हो और दूसरी ओर जमा राशियों पर 'ज़कात' लगाई जाए, ताकि लोगों में धन-संचय की प्रवृत्ति कम हो और जो दौलत रुक जाए, उसका एक भाग उन लोगों तक पहुँच जाए जिन्होंने धन के प्रवाह में से कम हिस्सा पाया है। परन्तु आप, इसके विपरीत, ब्याज का लालच दे-देकर लोगों की स्वाभाविक कंजूसी को और अधिक उकसाते हो और जो कंजूस नहीं हैं, उनको भी यह सिखाते हो कि वे ख़र्च करने के स्थान पर माल जमा करके रखें।

फिर इस ग़लत रीति से सामूहिक हित के विपरीत जो पूँजी इकट्ठी हीती है, उसको आप उत्पादक कार्यों की ओर लाते भी हैं तो ब्याज के रास्ते से लाते हैं। यह सामाजिक हित पर आपका दूसरा अत्याचार है। अगर यह इकट्ठा हुआ धन इस शर्त पर कारोबार में लगता कि जितना कुल लाभ कारोबार में होगा, उसमें से पूँजीपति को समानुपात में मिल जाएगा तब भी कोई बुराई न थी। मगर आप उसको इस शर्त पर पूँजी बाज़ार में लाते हैं कि व्यवसाय में चाहे कम लाभ हो या अधिक, प्रत्येक परिस्थिति में पूँजीधारक निश्चित प्रतिशत लाभ अवश्य पाएगा। इस तरह आपने सोसाइटी की अर्थव्यवस्था को दोहरी हानि पहुँचाई। एक हानि वह जो धन को ख़र्च न करने और रोक रखने से पहुँची और दूसरी यह कि जो धन अर्थव्यवस्था की ओर पलटा भी तो साझेदारी के सिद्धान्त पर कारोबार में सम्मिलित नहीं हुआ, बल्कि ऋण बनकर पूरे समाज के व्यापार और व्यवसाय पर लद गया और आपके क़ानून ने उसको पूर्वनिर्धारित लाभ की गॉरंटी दे दी। अब आपकी इस ग़लत व्यवस्था के कारण स्थिति यह हो गई कि समाज के अधिकतर लोग उस क्रय-शक्ति को, जो उन्हें प्राप्त है, उत्पादन को क्रय करने में ख़र्च करने के बजाए रोक-रोककर ब्याज के क़र्ज़ के रूप में समाज के सिर पर लादते चले जाते हैं और समाज इस बढ़ती हुई जटिलता में घिर गया है कि आख़िर वह हर क्षण बढ़नेवाले क़र्ज़ तथा ब्याज को किस प्रकार अदा करे, जबकि इस पूँजी से उत्पादित सामान की खपत बाज़ार में कठिनाई से हो रही है। लाखों-करोड़ों लोग इसे इसलिए नहीं ख़रीदते कि उनके पास साधन नहीं और हज़ारों लोग इसलिए नहीं ख़रीदते कि वे अपनी क्रय-शक्ति को ब्याज के क़र्ज़ बनाने के लिए संचित करते चले जा रहे हैं।

आप इस ब्याज का लाभ यह बताते हैं कि उसके दबाव में व्यापारी मजबूर होता है कि पूँजी के फ़ुज़ूल प्रयोग से बचे और उसको अधिक-से-अधिक लाभकारी तरीक़े से इस्तेमाल करे। आप ब्याज-दर का यह गुण बताते हैं कि यह चुपचाप कारोबार को मार्ग दिखाती रहती है और यह उसी के कारण है कि पूँजी अपने बहाव के लिए सभी सम्भावित रास्तों में से उस कारोबार का चयन कर लेती है जो सबसे अधिक लाभकारी होता है। परन्तु

तनिक परदा उठाकर देखिए कि इसके पीछे क्या वास्तविकता छुपी है। वास्तव में ब्याज ने पहली सेवा तो यह प्रदान की कि 'लाभ' की सभी दूसरी व्याख्याएँ निरस्त हो गईं और इस शब्द का केवल एक अर्थ शेष रह गया।

अर्थात् वित्तीय लाभ और भौतिक फ़ायदा। इस प्रकार पूँजी को बड़ी 'एकाग्रता' प्राप्त हो गई। पहले वह उन रास्तों पर भी चली जाया करती थी जिनमें वित्तीय लाभ के अतिरिक्त भी लाभ होता था, मगर अब वह सीधा उन रास्तों का रुख़ करती है जिधर वित्तीय लाभ निश्चित होता है। फिर दूसरा काम वह ब्याज-दर के द्वारा यह करती है कि पूँजी को लाभकारी प्रयोग का पैमाना सामाजिक हित नहीं, बल्कि पूँजी का हित बनाती है। बयाज-दर यह तय कर देती है कि पूँजी उस काम में लगेगी जिसमें उदाहरण के लिए 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष या उससे अधिक लाभ पूँजी लगानेवाले को मिल सकता हो। इससे कम लाभ देनेवाला कोई काम इस योग्य नहीं है कि उसमें पूँजी का निवेश किया जाए। अब मान लीजिए कि एक स्कीम यह आती है कि भवन-निर्माण किए जाएँ जो ग़रीब लोग कम किराए पर ले सकें। दूसरी स्कीम यह आती है कि एक विशाल सिनेमाघर बनाया जाए। पहली स्कीम में 6 प्रतिशत से कम लाभ की उम्मीद है और दूसरी स्कीम में उससे अधिक लाभ दिखाई देता है। सामान्य परिस्थितियों में इस बात की सम्भावना थी कि पूँजी 'नादानी' के साथ पहली स्कीम की ओर चली जाती या कम-से-कम दोनों स्कीमों के बीच सोच-विचार पर विवश होती, मगर ब्याज-दर के 'मार्गदर्शन' के कारण पूँजी बिना हिचक दूसरी स्कीम की ओर चल पड़ती है और पहली स्कीम को आँख उठाकर भी नहीं देखती। फिर ब्याज की दर व्यावसायी को मजबूर कर देती है कि वह हर सम्भव नीति से हाथ-पैर मारकर अपने लाभ को उस सीमा के ऊपर-ही-ऊपर रखने की कोशिश करे जो पूँजी लगानेवाले ने खींच दी है, चाहे इसके लिए उसे कैसे ही अनैतिक कार्य करने पड़ें। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति ने एक फ़िल्म कम्पनी स्थापित की है। जो पूँजी उसमें लगी है, उसकी ब्याज-दर 6 प्रतिशत वार्षिक है तो उसको प्रत्येक दशा में वह तरीक़े अपनाने पड़ेंगे जिनसे उसके कारोबार का 'मुनाफ़ा' हर हाल में इस ब्याज-दर से अधिक रहे। यह मुनाफ़ा अगर ऐसी फ़िल्म से

प्राप्त न हो सके जो नैतिक दृष्टि से साफ़-सुथरी और ज्ञानवर्धक हो तो वह मजबूर होगा कि अश्लील फ़िल्म बनाए और ऐसे विज्ञापन दे कि लोगों की वासना भड़के और लोग बड़ी संख्या में फ़िल्म देखने आएँ।

यह है उन फ़ायदों की वास्तविकता जो ब्याज के पक्षधरों के अनुसार ब्याज से हासिल होते हैं और जिनके प्राप्त करने का कोई और साधन ब्याज के अतिरिक्त नहीं है। अब तनिक उस आवश्यकता को भी देखें जो ब्याज के पक्षधरों के अनुसार ब्याज के अभाव में पूरी नहीं हो सकती। निस्सन्देह ऋण मानव-जीवन की आवश्यकताओं में से है। इसकी ज़रूरत लोगों को अपनी निजी आवश्यकताओं में भी होती है, व्यापार, व्यवसाय और कृषि आदि में भी माँग रहती है और हुकूमत सहित सभी सामूहिक संस्थाएँ इसकी ज़रूरतमन्द रहती हैं। परन्तु यह कहना ग़लत है कि ब्याज के बिना ऋण की उपलब्धता असम्भव है। वास्तव में यह स्थिति कि व्यक्तियों से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक किसी को भी एक पैसा बिना ब्याज क़र्ज़ के तौर पर नहीं मिलता, इस कारण पैदा हुई कि आपने ब्याज को क़ानून द्वारा जाइज़ कर रखा है। इसको हराम (वर्जित) घोषित कीजिए और अर्थव्यवस्था के साथ-साथ नैतिकता की भी वह व्यवस्था अपनाइए जो इस्लाम ने प्रस्तुत की है, फिर आप देखेंगे कि व्यक्तिगत आवश्यकताओं और कारोबारी तथा सामाजिक ज़रूरतों हर चीज़ के लिए ब्याज-रहित ऋण मिलना आरम्भ हो जाएगा, बल्कि उपहारस्वरूप भी रुपये मिलने लगेंगे। इस्लाम इसका व्यावहारिक प्रमाण दे चुका है। सदियों तक मुस्लिम समाज ब्याज के बिना बेहतरीन तरीक़े से अपनी अर्थव्यवस्था का सारा काम चलाता रहा है। बिना ब्याज के क़र्ज़ इस दुर्भाग्यपूर्ण ब्याज के युग से पहले कभी मुस्लिम समाज की यह स्थिति नहीं रही कि किसी मुसलमान का जनाज़ा इसलिए कफ़न के बिना पड़ा रह गया हो कि उसके वारिस को कहीं से बिना ब्याज के क़र्ज़ नहीं मिला या मुसलमानों के व्यापार, उद्योग या कृषि इसलिए बैठ गए कि कारोबारी आवश्यकता के समय ब्याज-रहित ऋण उपलब्ध न हो सका या मुसलमान हुकूमतें जनकल्याण के कार्यों के लिए इस कारण पूँजी न जुटा सकीं कि उनके लोग अपनी हुकूमत को ब्याज-रहित धन देने को तैयार न थे। अतः

आपका यह दावा कि ब्याज-रहित ऋण अव्यावहारिक है और ऋण लेने और देने की इमारत केवल ब्याज पर खड़ी हो सकती है, इसके इनकार के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं है। हम अपने सदियों के व्यवहार से इसे ग़लत सिद्ध कर चुके हैं।

यह बात कि आज इस ज़माने की आर्थिक आवश्यकताओं के लिए ब्याज-रहित ऋण की उपलब्धता व्यावहारिक रूप से किस प्रकार हो सकती है, इसपर आगे चर्चा होगी।

ब्याज-निषेध हानिकारक पहलू

पिछले अध्याय में जो चर्चा हमने की है उससे तो केवल इतनी बात सिद्ध होती है कि ब्याज न तो औचित्यपूर्ण है, न न्यायोचित है, न कोई आर्थिक आवश्यकता है और न ही उसमें लाभ का कोई पहलू है। परन्तु ब्याज का निषेध मात्र इन नकारात्मक कारकों ही पर आधारित नहीं है, बल्कि उसका मूल कारण यह है कि वह पूर्णरूप से एक हानिकारक चीज़ है और अनेक पहलुओं से अत्यन्त हानिकारक है।

इस अध्याय में हम एक-एक करके उन हानियों का विस्तार से विवेचन करेंगे जिससे किसी सभ्य व्यक्ति को उस अशुद्ध चीज़ के वर्जित होने में तनिक भी सन्देह शेष न रह जाए।

ब्याज की नैतिक तथा आध्यात्मिक हानियाँ

सर्वप्रथम नैतिकता तथा अध्यात्म के दृष्टिकोण से देखिए, क्योंकि नैतिकता तथा अध्यात्म ही मानवता का मूल है। यदि कोई चीज़ हमारे इस मूल को हानि पहुँचानेवाली हो तो बहरहाल वह त्यागने योग्य है, चाहे किसी अन्य पहलू से उसमें कितने ही लाभ हों। अब अगर आप 'ब्याज' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें तो आपको एक ही नज़र में ज्ञात हो जाएगा कि धन इकट्ठा करने की इच्छा से लेकर 'ब्याज के कारोबार' के विभिन्न चरणों तक सम्पूर्ण मानसिक क्रिया स्वार्थ, कंजूसी, तंगदिली, कठोर हृदयता तथा धन लोलुपता जैसे अवगुणों के प्रभाव से ग्रस्त रहती है और जितना-जितना

आदमी इस कारोबार में आगे बढ़ता जाता है, यही मानसिकता उसमें विकसित होती चली जाती है। इसके विपरीत ज़कात और दान-पुण्य की आरम्भिक सोच से लेकर उसको व्यवहार में लाने तक सम्पूर्ण प्रक्रिया उदारता, त्याग, हमदर्दी, विशाल हृदयता, ऊँची सोच और सद्‌भावना जैसे गुणों के प्रभाव में सम्पन्न होती है। इस कार्यविधि पर लगातार कार्य करते रहने से यही गुण इनसान के अन्दर विकसित होते हैं। क्या कोई इनसान दुनिया में ऐसा है जिसका दिल यह गवाही न देता हो कि नैतिक गुणों के इन दोनों संयोजनों में पहला संयोजन निकृष्ट तथा दूसरा उत्कृष्ट है?

सांस्कृतिक एवं सामाजिक हानियाँ

अब सांस्कृतिक स्थिति से देखिए। थोड़े सोच-विचार से यह बात हर व्यक्ति की समझ में आसानी से आ सकती है कि जिस समाज में लोग एक-दूसरे के साथ स्वार्थ का व्यवहार करें, कोई अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं हित के बग़ैर किसी के काम न आए, एक की आवश्यकता दूसरे के लाभ का अवसर बन जाए और मालदार लोगों का हित ग़रीबों के हित का उलट हो जाए, ऐसा समाज कभी सुदृढ़ नहीं हो सकता। उसके अंग सदा विघटन एवं बिखराव ही की ओर अग्रसर रहेंगे और यदि दूसरे कारक भी इस स्थिति के लिए सहायक बन जाएँ तो ऐसे समाज के अंगों का पारस्परिक टकराव भी असम्भव नहीं है। इसके विपरीत जिस समाज की सामूहिक व्यवस्था आपस की हमदर्दी पर आधारित हो, जिसके लोग एक-दूसरे के साथ उदारता का मामला करें, जिसमें मालदार लोग ग़रीबों के साथ हमदर्दी, सहायता या कम-से-कम न्यायपूर्ण रवैया अपनाएँ, ऐसे समाज में पारस्परिक प्रेम-भाव तथा सद्‌भावना का वातावरण विकसित होगा, इसके सभी वर्ग एक-दूसरे से जुड़े तथा सहायक होंगे। इसमें आन्तरिक विवाद और टकराव को रास्ता नहीं मिलेगा। इसमें आपसी सहयोग और भला चाहने के माहौल के कारण विकास की गति पहले समाज की तुलना में बहुत अधिक तेज़ होगी।

यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की भी है। यदि एक देश दूसरे देश के साथ उदारता और हमदर्दी का मामला करे तथा संकट के समय खुले दिल

से सहायता का हाथ बढ़ाए तो यह सम्भव ही नहीं है कि दूसरी ओर से उसका उत्तर प्रेम-भाव, कृतज्ञता और भलाई के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में मिले। इसके विपरीत यदि वही देश अपने पड़ोसी के साथ स्वार्थपरता और तंगदिली का व्यवहार करे तथा उसकी कठिनाइयों का अनुचित लाभ उठाए तो हो सकता है कि धन के रूप में वह बहुत कुछ लाभ प्राप्त कर ले, परन्तु यह सम्भव ही नहीं है कि फिर अपने इस 'शायलॉक' रूपी पड़ोसी के लिए उस क़ौम के दिल में प्रेम और सद्भावना शेष रह जाए। विश्व-युद्ध के समय में इंग्लैंड ने अमेरिका से एक बड़ा ऋण का मामला तय किया था जो ब्रेटन वूड्ज़ समझौते (Bretton Woods Agreement) के नाम से प्रसिद्ध है। इंग्लैंड चाहता था कि उसका अमीर दोस्त, जो इस युद्ध में उसका साथी था, उसे ब्याज-रहित ऋण दे, परन्तु अमेरिका ब्याज छोड़ने पर सहमत न हुआ और इंग्लैंड अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण मजबूर हो गया कि वह ब्याज देना स्वीकार करे। इसका जो प्रभाव अंग्रेज़ क़ौम पर हुआ, वह उनके लेखों और व्याख्यानों से ज्ञात हो सकता है, जो उस समय इंग्लैंड के बुद्धिजीवियों और पत्रकारों की वाणी तथा क़लम से निकले।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कीन्स, जिन्होंने इंग्लैंड की ओर से यह मामला तय किया था, जब अपने मिशन को पूरा करके पलटे तो उन्होंने ब्रिटेन के हाउस ऑफ़ लार्डस में इसपर बोलते हुए कहा कि "मैं जीवन पर्यन्त इस दुख को न भूल सकूँगा जो मुझे इस बात से हुआ कि अमेरिका ने हमको ब्याज-रहित ऋण देना गवारा न किया।" चर्चिल, जो अमेरिका को पसन्द करनेवाले व्यक्ति थे, ने कहा, 'यह बनियेपन का व्यवहार जो हमारे साथ हुआ है, मुझे इसकी गहराई में बड़े ख़तरे दिखाई देते हैं। सच्ची बात यह है कि इसका हमारे आपसी सम्बन्धों पर बहुत ही बुरा असर पड़ा है।" उस समय के वित्त-मंत्री डॉ॰ डाल्टन ने पार्लियामेंट में इस मामले को स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करते हुए कहा, "यह भारी बोझ जिसे लादे हुए हम युद्ध से निकल रहे हैं, हमारे बलिदानों एवं कठोर परिश्रम का बड़ा ही अजीब बदला है। इस निराले सितम ढानेवाले इनाम पर भविष्य के इतिहासकार ही कुछ बेहतर राय देंगे। हमने निवेदन किया था कि हमें ब्याज-रहित ऋण दिया

जाए, मगर उत्तर दिया गया कि यह व्यावहारिक राजनीति नहीं है।" यह ब्याज का स्वाभाविक प्रभाव तथा उसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है जो सदैव प्रत्येक परिस्थिति में सामने आएगी, चाहे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ यह मामला करे या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ करे।

आर्थिक हानियाँ

अब इसके आर्थिक पहलू पर दृष्टि डालिए। ब्याज का सम्बन्ध आर्थिक जीवन के उन मामलों से है जिनमें किसी-न-किसी रूप में ऋण का लेन-देन होता है। ऋण कई प्रकार के होते हैं–

1. व्यक्तिगत ऋण, जो ज़रूरतमन्द अपनी आवश्यकता के लिए लेते हैं।
2. उत्पादक ऋण, जो व्यापारी, उद्योगपति और कृषक लाभकारी कार्यों के लिए लेते हैं।
3. सरकारी ऋण जो सरकारें देशवासियों से लेती हैं–इनमें कुछ ऋण अलाभकारी होते हैं जैसे–युद्ध के लिए और कुछ ऋण लाभकारी होते हैं जैसे नहरों, रेलों अथवा विद्युत उत्पादनों की स्कीमों के लिए लिए गए ऋण।
4. वे सरकारी ऋण जो सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाज़ार से लेती हैं।

इनमें प्रत्येक के सम्बन्ध में हम देखेंगे कि इसपर ब्याज लगाने की क्या हानियाँ हैं।

1. व्यक्तिगत ऋण

दुनिया में सबसे बढ़कर ब्याज खाने का कारोबार महाजनी कारोबार (Money Lending Business) कहलाता है। यह मुसीबत केवल भारतीय उपमहाद्वीप तक सीमित नहीं है, बल्कि एक वैश्विक त्रासदी है, जिससे दुनिया का कोई देश बचा हुआ नहीं है। इसका कारण यह है कि दुनिया में कहीं भी यह व्यवस्था नहीं है कि ग़रीब और मध्यम श्रेणी के लोगों को उनकी आकस्मिक आवश्यकता के लिए आसानी से क़र्ज़ मिल जाए और वह ब्याज-रहित न भी हो तो कम-से-कम बाज़ार की ब्याज-दर पर मिल जाए। सरकार

इसे अपने कर्तव्यों से बाहर मानती है। समाज को इस ज़रूरत का एहसास नहीं। बैंक केवल उन कार्यों में हाथ डालते हैं जिनमें लाखों के वारे-न्यारे होते हैं, और वैसे भी यह सम्भव नहीं है कि एक कम आयवाला व्यक्ति अपनी आकस्मिक आवश्यकता के लिए बैंक तक पहुँच सके और ऋण प्राप्त कर सके। इन कारणों से मज़दूर, किसान, लघु व्यवसायी, अल्पवेतन कर्मचारी और साधारण ग़रीब लोग हर देश में मजबूर होते हैं कि संकट के समय में उन महाजनों से ऋण लें जो अपनी बस्तियों के निकट ही उनको गिद्ध की भाँति शिकार की खोज में मंडराते हुए मिल जाते हैं। इस कारोबार में इतनी भारी ब्याज-दर प्रचलित है कि जो व्यक्ति एक बार ब्याज के ऋण के जाल में फँस जाता है वह फिर उससे नहीं निकल सकता, बल्कि दादा का लिया हुआ ऋण पोतों तक 'विरासत' में हस्तान्तरित होता चला जाता है और मूल से कई गुणा ब्याज चुकाने पर भी मूलधन की चट्टान ज्यों-की-त्यों आदमी के सीने पर धरी रहती है। फिर कई बार ऐसा भी होता है कि अगर ऋणी कुछ समय तक ब्याज देने योग्य नहीं होता तो चढ़े ब्याज की रक़म को मूलधन में सम्मिलित करके महाजन अपना ही ऋण और ब्याज वसूल करने के लिए उसी व्यक्ति को एक और बड़ा ऋण अधिक ब्याज-दर पर दे देता है और वह ग़रीब पहले से अधिक भार तले दब जाता है।

यह वह मुसीबत है जिसमें प्रत्येक देश के ग़रीब और मध्यम-वर्ग की बड़ी संख्या फँसी हुई है। इसके कारण कम आयवाले लोगों की कमाई का बड़ा भाग महाजन ले जाता है। रात-दिन की अनथक मेहनत के बाद जो थोड़ा-सा वेतन या मज़दूरी उनको मिलती है, उसमें से ब्याज देने के बाद उनके पास इतना भी नहीं बचता कि वे दो वक़्त की रोटी का ख़र्चा चला सकें। यह चीज़ केवल उनके आचरण को ही नहीं बिगाड़ती और अपराध की ओर नहीं धकेलती, बल्कि उनके जीवन स्तर को और उनके बच्चों की शिक्षा-दीक्षा को निचले स्तर पर ले आती है और इसका परिणाम यह भी है कि सदैव की चिन्ता और परेशानी देश के कामगारों की कार्य-क्षमता को घटा देती है। जब वे देखते हैं कि उनके परिश्रम का फल दूसरा ले उड़ता है तो अपने काम में उनकी रुचि समाप्त हो जाती है। इस आधार पर ब्याज के

कारोबार की यह रीति एक अत्याचार ही नहीं है, बल्कि यह अर्थव्यवस्था के लिए भी अत्यन्त हानिकारक है। यह कैसी मूर्खता है कि जो लोग एक राष्ट्र के वास्तविक 'उत्पादक' हैं, जिनके श्रम से ही धन का सृजन होता है और राष्ट्र की समृद्धि उन्हीं पर निर्भर है, उनके ऊपर बहुत-सी 'जोंकें' लगा दी जाएँ जो उनका रक्त पीकर उनको निढाल करती हैं। आप हिसाब लगाते हैं कि मलेरिया से इतने लाख पैदावारी घंटों का नुक़सान हो जाता है और इसी के कारण देश के उत्पादन में इतनी कमी होती है। इस आधार पर आप मच्छरों पर पिल पड़ते हैं और उन्हें समाप्त करने का प्रयास करते हैं, परन्तु आप इसकी गणना नहीं करते कि आपके ब्याज खानेवाले साहूकार लाखों कामगारों को कितना परेशान और चिन्तायुक्त करते रहते हैं, उनकी कार्य-क्षमता और कार्य-कुशलता को कम कर देते हैं, और इसका कितना कुप्रभाव आपके उत्पादन पर पड़ता है। विडम्बना यह है कि आप उन साहूकारों को समाप्त करने के बजाए उलटा उनके ऋणियों को पकड़ते हैं और जो ख़ून साहूकार उनसे नहीं निकाल सका, वह आपकी अदालतें निचोड़ कर साहूकार के हवाले कर देती हैं।

इसकी दूसरी आर्थिक हानि यह है कि इस तरह असम्पन्न वर्ग की रही-सही क्रय-क्षमता भी साहूकार छीन ले जाता है। लाखों लोगों की बेरोज़गारी और करोड़ों लोगों की अपर्याप्त आय पहले ही व्यापार और व्यवसाय की उन्नति में बाधक थी, उसपर आपने अच्छी आय प्राप्त करनेवालों को यह रास्ता दिखाया कि वे ख़र्चा न करें, बल्कि अधिक-से-अधिक धन की बचत करें। इसका परिणाम यह हुआ कि पूँजी बाज़ार में नहीं आई। अब इससे आगे बढ़कर यह कि लाखों-करोड़ों ग़रीब लोगों को अपर्याप्त वेतन और मज़दूरी के रूप में जो थोड़ी-बहुत क्रय-शक्ति प्राप्त थी, उसको भी वह अपनी आवश्यक वस्तुओं को क्रय करने में प्रयोग नहीं कर पाते, बल्कि उसका एक बड़ा भाग साहूकार उनसे छीन लेता है और उसको वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय करने पर ख़र्च करने के स्थान पर समाज के सिर पर और अधिक ब्याज सहित ऋण का भार चढ़ाने में प्रयुक्त करता है। तनिक अनुमान लगा करके देखिए कि महाजनी ऋण के ब्याज का कितना बड़ा भार लोगों पर है जिसके

कारण करोड़ों का माल विक्रय होने से रह जाता है और एक बड़ी रक़म उत्पादक कार्यों की ओर पलटने के बजाए ब्याज के ऋण में लगा दी जाती है।

व्यापारिक ऋण

अब देखिए कि जो ऋण व्यवसाय, उद्योग और अन्य व्यापारिक उद्देश्यों के लिए लिया जाता है, उसपर ब्याज को वैध घोषित करने की आर्थिक हानियाँ क्या हैं? उद्योग, व्यापार, कृषि और अन्य सभी आर्थिक कार्यों की उन्नति यह चाहती है कि जितने लोग भी किसी कारोबार को चलाने में किसी रूप में भी भागीदार हों, उन सबके हित, उद्देश्य और रुचि इस काम के उत्थान से जुड़ जाएँ। इसका नुक़सान सबका नुक़सान होता है। वे इस जोखिम से बचने का सामूहिक प्रयास करें। इसका लाभ सबका लाभ है, इसलिए उसे बढ़ाने में अपनी पूर्ण क्षमता लगा दें। इस आधार पर आर्थिक हित की माँग यह थी कि जो लोग कारोबार में मानसिक या शारीरिक कार्यकर्ता की हैसियत से नहीं, बल्कि केवल पूँजी उपलब्ध करानेवाले पक्ष की हैसियत से भाग लें, उनकी भागीदारी भी इस प्रकार की हो कि वे भी कारोबार की भलाई और बुराई से जुड़े रहें और वे कारोबार को बढ़ाने तथा हानि से बचाने में पूर्ण रुचि लें। मगर जब क़ानून ने ब्याज को वैध कर दिया तो पूँजीपतियों के लिए यह रास्ता खुल गया कि वे अपनी पूँजी को साझेदार के रूप में कारोबार में लगाने के स्थान पर ऋणदाता की हैसियत से ऋण के रूप में दें और उसपर एक निर्धारित दर के अनुसार अपना लाभ प्राप्त करते रहें। इस स्थिति में समाज के आर्थिक कारकों में एक निराला अस्वाभाविक कारक आकर मिल जाता है जो सभी उत्पादक के कारकों के विपरीत इस पूरी प्रक्रिया की भलाई-बुराई से कोई दिलचस्पी नहीं रखता। इस क्रिया में हानि हो रही हो तो सबके लिए ख़तरा है, मगर उसके लाभ की गॉरंटी है। इसलिए सब तो हानि को रोकने का प्रयास करेंगे, परन्तु यह उस समय तक चिंतित नहीं होगा जब तक कि कारोबार का बिलकुल ही दिवाला न निकलने लगे। हानि के समय यह कारोबार को बचाने के लिए सहायता को नहीं दौड़ेगा, बल्कि अपने आर्थिक हित को बचाने के लिए अपनी दी हुई रक़म

भी खींच लेना चाहेगा। इसी प्रकार उत्पादन को उन्नति देने से भी इसे प्रत्यक्ष रूप से कोई लगाव नहीं होगा, क्योंकि उसका लाभ तो पूर्व निर्धारित है, फिर वह क्यों इस कारोबार की उन्नति और सफलता के लिए अपना सिर खपाए। तात्पर्य यह कि समाज के लाभ और हानि से असम्बन्धित यह अजीब आर्थिक कारक अलग बैठा हुआ केवल अपनी पूँजी को 'किराए' पर चलाता रहता है और बेखटके अपना निर्धारित 'किराया' वुसूल करता रहता है।

इस ग़लत रीति ने पूँजी और कारोबार के बीच सद्भावनापूर्ण सहयोग के बजाए बहुत ही स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। जो लोग भी धन जमा करने और आर्थिक उत्पादन के कार्य में निवेश करने के अवसर रखते हैं, वे इस धनराशि से न तो स्वयं कोई कारोबार करते हैं, न कारोबार करनेवालों के साथ भागीदार होते हैं, बल्कि उनकी इच्छा यह होती है कि उनका धन एक निर्धारित लाभ की गॉरंटी के साथ ऋण के रूप में काम पर लगे और फिर वे निर्धारित लाभ भी अधिक-से-अधिक दर पर हो। इसकी अनगिनत हानियों में से कुछ मुख्य ये हैं—

1. पूँजी का एक बड़ा भाग केवल ब्याज-दर ऊपर चढ़ने की प्रतीक्षा में निष्क्रिय पड़ा रहता है और किसी लाभकारी कार्य में प्रयुक्त नहीं होता, जबकि अन्य साधन भी उपलब्ध होते हैं। रोज़गार के लिए लोग भी मारे-मारे फ़िर रहे होते हैं और आवश्यक वस्तुओं की माँग भी मौजूद होती है। परन्तु ये सब होते हुए भी न साधन इस्तेमाल होते हैं, न आदमी काम पर लगते हैं और न बाज़ारों में वास्तविक माँग के अनुसार सामान की आपूर्ति होती है, केवल इसलिए कि पूँजीपति जिस दर से लाभ लेना चाहता है, उसके मिलने की उसे उम्मीद नहीं होती और इस आधार पर वह कार्य में लगाने के लिए धन नहीं देता।
2. अधिक ब्याज-दर का लालच वह चीज़ है जिसके कारण पूँजीपति वर्ग व्यवसाय की ओर पूँजी के बहाव को व्यवसाय की वास्तविक आवश्यकता और स्वाभाविक माँग के अनुसार नहीं, बल्कि अपने हित के अनुसार रोकता या खोलता रहता है। इसकी हानि कुछ ऐसी है कि जैसे कोई नहर का मालिक खेतों और बाग़ों की माँग तथा आवश्यकता के अनुसार

पानी न खोले और न बन्द करे, बल्कि अपने पानी खोलने और बन्द करने का नियम यह बना ले कि जब पानी की ज़रूरत न हो तो पानी सस्ते दामों पर छोड़ने को तैयार हो जाए और जैसे ही पानी की माँग बढ़नी आरम्भ हो तो वह उसके साथ-साथ पानी का मूल्य भी चढ़ाता चला जाए, यहाँ तक कि इस मूल्य पर पानी लेकर खेतों और बाग़ों की सिंचाई लाभदायक न रहे।

3. ब्याज तथा उसकी दर ही वह चीज़ है जिसके कारण व्यापार और उद्योगों की व्यवस्था एक समतल स्थिति में चलने के स्थान पर व्यापार-चक्र के रोग में घिर जाती है, जिसमें उसपर बार-बार मन्दी के दौरे पड़ते हैं। इसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं, इसलिए यहाँ उसको दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

4. फिर यह भी इसी का करिश्मा है कि पूँजी उन कार्यों की ओर जाने को राज़ी नहीं होती जो जनता के हित में है, परन्तु वित्तीय आधार पर उतने लाभदायक नहीं हैं कि बाज़ार की ब्याज-दर के अनुसार लाभ दे सकें। इसके विपरीत वह अनावश्यक मगर लाभदायक कामों की ओर बह निकलती है और उसपर भी वह कार्यरत लोगों को मजबूर करती है कि ब्याज-दर से अधिक-से-अधिक कमाने के लिए हर प्रकार में अच्छे और बुरे सही और ग़लत तरीक़े अपना ले। इस हानि की व्याख्या भी हम पहले कर चुके हैं।

5. पूँजीपति लम्बी अवधि के लिए पूँजी देने से बचते हैं, क्योंकि एक ओर वे सट्टेबाज़ी के लिए पर्याप्त धनराशि हर समय रखना चाहते हैं और दूसरी ओर उनकी यह सोच भी होती है कि अगर भविष्य में कभी ब्याज की दर बढ़ी तो हम उस समय कम ब्याज पर अधिक धन फँसा देने से घाटे में रहेंगे। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारी और उद्योगपति अपने सारे कारोबार में उत्साह की कमी का रास्ता अपनाने पर मजबूर हो जाते हैं और स्थाई सुधार के लिए कुछ करने के स्थान पर बस काम चलाऊ रीति अपनाते हैं। उदाहरण के लिए ऐसी अल्पकालीन पूँजी को लेकर उनके लिए यह कठिन हो जाता है कि वे अपने उद्योग के लिए

आधुनिक मशीनें ख़रीदने के लिए कोई बड़ी धनराशि ख़र्च कर दें। वे पुरानी मशीनों के द्वारा ही भला-बुरा माल बाज़ार में फेंकने पर मजबूर हो जाते हैं, ताकि ऋण और ब्याज का भुगतान कर सकें और कुछ अपना लाभ पैदा कर लें। इसी तरह यह भी इन अल्पकालीन ऋणों का प्रभाव है कि मंडी से माल की माँग कम होते देख तुरन्त उद्योगपति माल का उत्पादन घटा देता है और वर्तमान गति को जारी रखने की हिम्मत नहीं कर सकता, क्योंकि उसे ख़तरा होता है कि यदि बाज़ार में माल की क़ीमत गिर गई तो वह फिर बिलकुल दिवालिया होने की कगार पर होगा।

6. फिर जो पूँजी बड़े औद्योगिक और व्यापारिक स्कीमों के लिए लम्बे समय के लिए मिलती है, उसपर भी एक विशेष दर के अनुसार ब्याज लगाना बड़ी हानि का कारण होता है। इस प्रकार के ऋण सामान्यतया दस-बीस या तीस वर्ष के लिए प्राप्त किए जाते हैं और इस पूरी अवधि के लिए प्रारम्भ में एक विशेष ब्याज-दर निर्धारित हो जाती है। इस दर को निर्धारित करते समय इस बात को ध्यान में नहीं रखा जाता और जब तक पक्षकार भविष्य ज्ञाता न हों, ध्यान रखा भी नहीं जा सकता कि आगामी 10-20 या 30 वर्ष में क़ीमतों का उतार-चढ़ाव क्या रूप लेगा और ऋण लेनेवाले के लिए लाभ की सम्भावनाएँ किस सीमा तक कम या अधिक होंगी या बिलकुल न रहेंगी। मान लीजिए कि आज एक व्यक्ति ने 20 वर्ष के लिए 10 प्रतिशत की ब्याज-दर पर एक बड़ा ऋण लिया और उससे काम आरम्भ किया। अब वह मजबूर है कि आगामी बीस वर्ष तक प्रत्येक वर्ष ब्याज और ऋण अदायगी की क़िस्तें प्रारम्भिक समझौते के अनुसार देता रहे। परन्तु यदि इस अवधि के बीच ही मूल्य कम होकर आधा रह जाए तो इसका तात्पर्य यह है कि यह व्यक्ति जब तक समझौते के आरम्भ के समय की तुलना में इस समय दुगुना माल न बेचे, वह न इस रक़म का ब्याज दे सकेगा और न क़िस्तें। इसका परिणाम यह है कि इस मन्दी के दौर में या तो इस प्रकार के अधिकांश ऋण लेनेवाले दिवालिया हो जाते हैं या उससे बचने के लिए आर्थिक

व्यवस्था को बिगाड़नेवाली अवैध गतिविधियों में से कोई कार्य करने लगते हैं। इस मामले में यदि विचार किया जाए तो किसी भले आदमी को इस बात में कोई सन्देह न रहेगा कि विभिन्न कालों में बढ़ती-घटती क़ीमतों के बीच ऋण देनेवाले पूँजीपतियों का वह लाभ जो सभी अवधियों में समान रहे, न न्याय है और न आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार उचित है और न सामूहिक ख़ुशहाली में मददगार सिद्ध हो सकता है। क्या दुनिया में कहीं आपने यह सुना है कि कोई कम्पनी जो आवश्यक वस्तुओं में से किसी की पूर्ति का ठेका ले रही हो, यह समझौता कर ले कि आगामी 30 या 20 साल तक यह वस्तु उसी क़ीमत पर क्रेता को उपलब्ध कराती रहेगी? अगर यह किसी लम्बी अवधि के सौदे में सम्भव नहीं है तो केवल ब्याज पर ऋण देनेवाला पूँजीपति ही वह अनोखा व्यापारी क्यों हो जो वर्षों तक अपने ऋण की क़ीमत पूर्व ही में तय करे और वही लगातार वुसूल करता चला जाए।

सरकारों के राष्ट्रीय ऋण (सार्वजनिक ऋण)

अब उन ऋणों (क़र्ज़ों) को लीजिए जो सरकारें सार्वजनिक प्रयोजनों हेतु स्वयं अपने देशवासियों से लेती हैं। इनमें से एक प्रकार वह है जो अलाभकारी कार्यों के लिए होता है और दूसरा वह जो लाभकारी कार्यों में लगाया जाता है।

पहले प्रकार के ऋणों पर ब्याज व्यक्तिगत आवश्यकता हेतु लिए गए ऋण के ब्याज के समान होता है, बल्कि वास्तव में उससे भी अधिक बुरा है। इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति को जिस समाज ने जन्म दिया, पाला-पोसा, इस योग्य बनाया कि वह कुछ कमा सके, ख़तरों से उसकी सुरक्षा की, नुक़सान से बचाया और समाज की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था ने उन सभी सेवाओं का प्रबन्ध किया जिनके कारण वह शान्तिपूर्वक अपना कारोबार चला रहा है, वह उसी समाज को उन ज़रूरतों के अवसर पर जिनमें किसी वित्तीय लाभ का कोई प्रश्न नहीं है और जिनके पूर्ण होने से सब लोगों के साथ खुद उस व्यक्ति का हित भी जुड़ा है, ब्याज-रहित ऋण देने पर तैयार नहीं होता और स्वयं अपने ही समाज से कहता है कि चाहे उस धन से लाभ

कमाए या न कमाए, मगर मैं तो अपनी रक़म का इतना प्रतिफल वार्षिक अवश्य लेता रहूँगा।

यह मामला उस समय और भी गम्भीर हो जाता है जब देश को युद्ध का सामना हो और सबके साथ उस पूँजीपति के अपने प्राण, धन और अस्मिता की सुरक्षा का प्रश्न भी हो। ऐसे समय पर जो कुछ राष्ट्र के ख़ज़ाने से व्यय होता है, वह किसी कारोबार में नहीं लगता, बल्कि आग में फूँक दिया जाता है। इसमें लाभ का क्या प्रश्न? और यह ख़र्च उस काम में होता है जिसकी सफलता और असफलता पर पूरे राष्ट्र के साथ स्वयं उस व्यक्ति का अपना जीवन-मरण भी निर्भर करता है। इस कार्य में देश के अन्य लोग अपने प्राण, समय तथा श्रम सब कुछ खपा रहे होते हैं और उनमें से कोई भी यह प्रश्न नहीं करता कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए जो कुछ मैं दे रहा हूँ, उसपर कितना वार्षिक लाभांश मुझको मिलता रहेगा? परन्तु पूरे राष्ट्र में केवल एक पूँजीधारक ही ऐसा निकलता है जो अपना माल देने से पूर्व यह शर्त रखता है कि मुझे प्रत्येक सौ रुपये पर इतना लाभ प्रतिवर्ष मिलना चाहिए और मेरा यह लाभ उस समय तक मिलते रहना चाहिए जब तक सारी क़ौम मिलकर मेरी दी हुई अस्ल रक़म मुझे वापस न कर दे, चाहे उसमें एक शताब्दी ही क्यों न लग जाए और मेरा यह लाभांश उन लोगों की जेबों में से भी आना चाहिए जिन्होंने देश और क़ौम की, स्वयं मेरी रक्षा में अपने हाथ-पैर कटवाए या अपने बेटे-भाई या पति खो दिए। प्रश्न यह है कि समाज में ऐसा वर्ग क्या इसका अधिकार रखता है कि उसे ब्याज खिला-खिलाकर पाला जाए?

रहे दूसरे प्रकार के ऋण तो उनकी प्रकृति उन ऋणों से कुछ भी भिन्न नहीं है जो आम लोग और संस्थाएँ कारोबारी उद्देश्य के लिए लेते हैं। अतः उनपर भी वे सब आपत्तियाँ लागू होती हैं जो ऊपर हमने व्यावसायिक ऋणों के ब्याज के सम्बन्ध में की हैं। सामान्यतया सरकारें लाभकारी कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण लेती हैं, परन्तु कोई सरकार भी एक निर्धारित ब्याज-दर पर ऋण लेते समय यह नहीं जानती कि आगामी बीस-तीस वर्ष के दौरान देश के अन्दरूनी हालात तथा विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय मामले किस दिशा में जाएँगे

और उनमें लाभ होने का क्या हाल रहेगा, जिसपर व्यय करने के लिए वह यह ब्याज पर ऋण ले रही है। अधिकतर ऐसा होता है कि सरकार के अनुमान ग़लत निकलते हैं और वह कार्य ब्याज-दर से अधिक तो दूर, उसके बराबर भी लाभ नहीं देता। यह उन बड़े कारणों में से एक है जिनसे सरकारें वित्तीय कठिनाई से जूझती हैं और उनके लिए पिछले ऋणों के मूलधन तथा ब्याज का भुगतान करना भी कठिन हो जाता है, अधिक लाभकारी स्कीमों में पूँजी निवेश तो बहुत दूर की बात है। इसके अतिरिक्त यहाँ भी वही स्थिति है जिसकी ओर हम संकेत कर चुके हैं कि बाज़ार की ब्याज-दर एक ऐसी सीमा निर्धारित कर देती है जिससे कम लाभ देनेवाले किसी कार्य पर पूँजी का निवेश नहीं होता, चाहे वह काम जनता के लिए कितना ही आवश्यक और हितकारी हो। न बसनेवाले क्षेत्रों में लोगों को बसाना, बंजर भूमि को ठीक करना, सूखे क्षेत्रों में सिंचाई की व्यवस्था, ग्रामीण इलाक़ों में सड़कों में प्रकाश एवं स्वास्थ्य सेवाओं का प्रबन्ध, अल्प-वेतनभोगी कर्मचारियों के लिए आवास-निर्माण और ऐसे ही अन्य कार्य अपनी जगह चाहे कितने ही आवश्यक हों और उनके न होने से चाहे देश का कितना ही नुक़सान हो, मगर कोई सरकार उनपर धन ख़र्च नहीं कर सकती जब तक कि उनसे इतना लाभ प्राप्त करने की सम्भावना न हो जो प्रचलित ब्याज-दर के बराबर या उससे अधिक हो।

फिर इस प्रकार के जिन कार्यों पर ब्याज पर ऋण लेकर पूँजी लगाई जाती है, उनके मामले में वास्तविक स्थिति यह होती है कि सरकार ब्याज का भार आम जनता पर डाल देती है, करों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जेब से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष यह ब्याज निकाला जाता है और साल-के-साल करोड़ों की धनराशि इकट्ठी करके पूँजीपतियों को लम्बे समय तक पहुँचाई जाती रहती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आज 5 करोड़ की पूँजी से सिंचाई की एक बड़ी परियोजना क्रियान्वित की जाती है और यह पूँजी 6 प्रतिशत वार्षिक ब्याज-दर पर प्राप्त की जाती है। इस हिसाब से सरकार को प्रत्येक वर्ष 30 लाख रुपये ब्याज के रूप में देने होंगे। स्पष्ट है कि इतनी बड़ी धनराशि सरकार कहीं से ज़मीन खोदकर नहीं निकालेगी, बल्कि उसका

भार उन कृषकों के ऊपर हस्तान्तरित कर देगी जो सिंचाई की इस परियोजना से लाभ उठाएँगे। प्रत्येक किसान पर जो सिंचाई शुल्क लगाया जाएगा, उसमें एक भाग उस ब्याज का भी होगा, और किसान भी यह शुल्क अपनी जेब से नहीं देगा, बल्कि वह इसका भार अनाज की क़ीमत में जोड़ देगा। इस प्रकार यह ब्याज परोक्ष रूप से हर उस व्यक्ति से वुसूल किया जाएगा जो इस अनाज की रोटी खाएगा। एक-एक ग़रीब और भूखे व्यक्ति की रोटी में से एक-एक टुकड़ा तोड़ा जाएगा और उन पूँजीपतियों के पेट में डाला जाएगा जिन्होंने इस परियोजना के लिए ब्याज पर ऋण दिया था। यदि सरकार को यह ऋण वापस करते-करते पचास वर्ष लग जाएँ तो वह ग़रीबों से चन्दा जमा कर-करके अमीरों की मदद करने का 'कर्तव्य' आधी सदी तक बराबर निभाती रहेगी और इस पूरे मामले में स्वयं उसकी हैसियत महाजन के 'मुनीम जी' से कुछ भिन्न न होगी।

यह कार्य अर्थव्यवस्था में धन के बहाव को असम्पन्न से सम्पन्न की ओर फेर देता है, जबकि समाज के कल्याण हेतु बहाव मालदारों से ग़रीबों की ओर होना चाहिए। यह ख़राबी केवल उसी ब्याज में नहीं है जो सरकारें ऋणों के सम्बन्ध में भुगतान करती हैं, बल्कि उन सभी ब्याज-सम्बन्धी मामलों में है जो सभी कारोबारी लोग कर रहे हैं। स्पष्ट है कि कोई व्यापारी, उद्यमी या कृषक अपनी जेब से वह ब्याज नहीं देता जो उसे पूँजीपति को देना होता है। वे सब इस ब्याज की रक़म को अपने-अपने माल के मूल्यों में जोड़ देते हैं और इस प्रकार आम लोगों से 'चन्दा' इकट्ठा करके लखपतियों और करोड़पतियों की झोली में डालते रहते हैं। इस औंधी व्यवस्था में सबसे अधिक 'मदद' का हक़दार देश का सबसे बड़ा धनवान साहूकार है और उसकी मदद का दायित्व सबसे बढ़कर जिसपर डाला जाता है, वह देश का वह नागरिक है जो दिन-भर अपना ख़ून-पसीना एक करके थोड़ी-सी रक़म कमा कर लाए और फिर भी अपने भूखे बाल-बच्चों के लिए चटनी-रोटी का प्रबन्ध करना उसके लिए वर्जित हो जब तक कि पहले वह इस चटनी और रोटी में से अपने देश के सबसे बड़े 'दया के योग्य' करोड़पति का हक़ न निकाल दे।

सरकारों के विदेशी ऋण

अन्तिम मद उन ऋणों की है जो सरकारें अपने देश के बाहर के साहूकारों या संस्थाओं से लेती हैं। इस प्रकार के ऋण सामान्यतया बड़ी धनराशि के होते हैं। सरकारें ऐसे ऋण अधिकतर उन परिस्थितियों में लेती है जब उनके देश पर असाधारण हालात होते हैं और देश के वित्तीय साधन पर्याप्त नहीं होते। कभी वह इस लालच में भी इस रीति को अपनाती है कि बड़ी धनराशि लेकर परियोजनाओं में लगाने से आर्थिक विकास होगा। इस प्रकृति के ऋणों में वे सभी ख़राबियाँ पाई जाती हैं जिनका हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। इसलिए इन ख़राबियों और हानियों को पुनः बताने की आवश्यकता नहीं। मगर ऋण की यह प्रकार उन सबके अतिरिक्त एक और ख़राबी भी अपने अन्दर रखती है जो इन सबसे अधिक ख़ौफ़नाक है, वह यह कि इन ऋणों के कारण पूरी क़ौम की माली हैसियत ख़राब एवं अर्थव्यवस्था तबाह हो जाती है, जिसका अत्यन्त बुरा प्रभाव विश्व की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है। फिर इनके कारण राष्ट्रों में वैमनस्य उत्पन्न होते हैं और अन्ततः देश के युवक हताश होकर अतिवादी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विचारों को स्वीकार करने लगते हैं और अपने देश की विपत्तियों का समाधान एक क्रान्ति या युद्ध में खोजना आरम्भ कर देते हैं।

स्पष्ट है कि जिस राष्ट्र के वित्तीय साधन पहले ही अपनी कठिनाइयों अथवा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त न थे, वे किस प्रकार ब्याज की भारी-भरकम धनराशि का भुगतान करने और मूलधन की क़िस्तें चुकाने योग्य हो सकते हैं। यही कारण है कि जो देश कोई बड़ी धनराशि इस तौर पर ब्याज पर ऋण ले लेता है, बहुत कम ऐसा होता है कि उसकी वे समस्याएँ हल हो जाएँ जिनसे निकलने के लिए उसने ऋण लिया था, बल्कि यही ऋण उसकी कठिनाइयों में वृद्धि का कारण बन जाते हैं। ऋण की वापसी और ब्याज के भुगतान के लिए उसे अपनी जनता पर अधिक टैक्स लगाना पड़ता है और व्यय में कटौती करनी होती है। इससे एक ओर जनता में बेचैनी बढ़ती है, क्योंकि जितना वह ख़र्च करती है उसके

अनुसार बदला नहीं मिलता और दूसरी ओर अपनी जनता पर इतना अधिक भार डालकर भी सरकार के लिए ऋण की क़िस्तों और ब्याज का भुगतान करते रहना कठिन हो जाता है। भुगतान में कोताही होने पर ऋणदाताओं द्वारा आरोप लगाए जाने लगते हैं और मीडिया में ख़बरें आने लगती हैं। सरकार इससे निकलने की चेष्टा में टैक्सों में वृद्धि और सरकारी ख़र्चों में कटौती करती है, परन्तु इसका प्रतिकूल प्रभाव नागरिकों पर पड़ता है। वे सरकार से मोह-भंग कर अतिवादियों के पीछे चल पड़ते हैं।

यहाँ पहुँचकर ब्याज द्वारा उत्पन्न बिगाड़ चरम पर पहुँच जाता है। क्या इसपर भी कोई विवेकशील व्यक्ति यह मानने से इनकार कर सकता है कि ब्याज एक ऐसी बुराई है जिसे पूर्ण रूप से वर्जित होना ही चाहिए? क्या इसकी हानियों तथा दुष्परिणामों को देख लेने के पश्चात् भी किसी को ईश्वर के पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के इस कथन में सन्देह हो सकता है—

> ''ब्याज इतना बड़ा पाप है कि उसको यदि सत्तर भागों में बाँटा जाए तो उसका हल्के-से-हल्का भाग उस पाप के बराबर होगा कि एक व्यक्ति अपनी माँ के साथ बदकारी करे।''
>
> (हदीस : इब्ने-माजा, बैहक़ी)

आधुनिक बैंकिंग

ब्याज के दोषों की चर्चा अभी समाप्त नहीं हुई है, उसमें निहित बुराइयों को इस संस्था ने कई गुणा बढ़ा दिया है जो वर्तमान युग में महाजनी और साहूकारी की पुरानी रीतियों के स्थान पर आधुनिक बैंकिंग का रूप धारण कर गई। इस संस्था ने प्राचीन सर्राफ़ की गद्दी पर आधुनिक युग के बैंकर और फाइनेंसर को ला बिठाया है, जिसके हाथ में आकर ब्याज का हथियार हर ज़माने से अधिक तबाही मचानेवाला बन गया है।

आरम्भिक इतिहास (पहला चरण)

इस नई साहूकारी व्यवस्था की प्रकृति को समझने के लिए आवश्यक है कि उसका आरम्भिक इतिहास आपके सामने हो।

पश्चिमी देशों में इसकी शुरुआत इस प्रकार हुई कि पहले जब काग़ज़ी नोट (करंसी) का चलन नहीं था तो लोग अधिकांशतः अपना धन सोने के रूप में रखते थे और उसे घरों में रखने के बजाय सुनारों के पास रखवा देते थे। सुनार सोने की रसीद लिख देता था, जिसमें उल्लेख होता था कि रसीद रखनेवाले के पास सोने की इतनी मात्रा अमुक सुनार के पास सुरक्षित है। धीरे-धीरे ये रसीदें क्रय-विक्रय और ऋणों के भुगतान तथा हिसाब के निबटारे में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित होने लगीं। लोगों के लिए यह बात अधिक सरल थी कि सोने की रसीद एक-दूसरे को दे दें, बजाए इसके कि प्रत्येक लेन-देने के समय सोना सुनार के यहाँ से निकलवाया जाए और उसके द्वारा कारोबार हो। रसीद की सुपुर्दगी का अर्थ स्वर्ण की सुपुर्दगी के समान था। इसलिए सभी व्यावसायिक कार्यों के लिए इन रसीदों ने अस्ल

सोने का स्थान ले लिया और इस बात की नौबत बहुत कम आने लगी कि कोई व्यक्ति वह सोना निकलवाए जो एक रसीद के पीछे सुनार के पास सुरक्षित था। इसकी ज़रूरत ऐसे ही समय में होती थी जब किसी को सोने ही की आवश्यकता होती थी, अन्यथा विनिमय के माध्यम के रूप में जितने कार्य स्वर्ण से चलते थे, वे सब उनकी हल्की-फुल्की रसीदों के द्वारा चल जाया करते थे, जिनका किसी के पास होना इस बात का सुबूत था कि वह इतने सोने का मालिक है।

अब इस अनुभव से सुनारों को ज्ञात हुआ कि जो सोना उनके पास लोगों की अमानतों का जमा है, उसका अधिकतम दसवाँ भाग निकलवाया जाता है, शेष नौ हिस्से उनकी तिजोरियों में बेकार पड़े रहते हैं। उन्होंने सोचा कि इस भाग को क्यों न प्रयोग में लाया जाए। इसलिए उन्होंने यह सोना लोगों को उधार देकर उसपर ब्याज वुसूल करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार प्रयुक्त करने लगे मानो कि वह उनकी अपनी सम्पत्ति है, जबकि वह दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति थी और बहुत ही हास्यास्पद बात यह है कि वे इस सोने के मालिकों से उसकी सुरक्षा का शुल्क भी लेते थे और चुपके-चुपके इसी सोने को ऋण में देकर उसका ब्याज भी वुसूल कर लेते थे।

फिर उनकी चालाकी तथा धोखेबाज़ी इस स्थान पर भी न रुकी। वह अस्ल सोना उधार देने के बजाए उस सोने की ताक़त पर काग़ज़ी रसीदें चलाने लगे, इसलिए कि उनकी दी हुई रसीदें बाज़ार में वे सारे कार्य कर रही थीं जो विनिमय के साधन के रूप में स्वर्ण किया करता था, और चूँकि उन्हें अपने अनुभव से ज्ञात हो चुका था कि सुरक्षित स्वर्ण का मात्र 1/10 भाग ही सामान्यतया वापस माँगा जाता है, शेष 9 भागों की ही नहीं, बल्कि 90 भागों की जाली रसीदें बनाकर काग़ज़ी करंसी के रूप में चलाना और ऋण देना शुरू कर दिया। इस मामले को हम उदाहरण द्वारा समझें कि अगर एक सुनार के पास एक व्यक्ति ने सौ रुपये का सोना जमा कराया था तो सुनार ने सौ-सौ रुपये की दस रसीदें बनाई जिनमें प्रत्येक पर लिखा कि इसके पीछे सौ रुपये का सोना मेरे पास जमा है। इस दस रसीदों में से एक जिसके पीछे वास्तव में स्वर्ण था उसने सोने के मालिक को दे दी और शेष नौ सौ रुपये

की नौ रसीदें जिनके पीछे कोई सोना नहीं था अन्य लोगों को उधार दे दी और उनपर ब्याज वुसूल करने लगा।

स्पष्ट है कि यह एक प्रकार का बहुत बड़ा धोखा था। इस धोखेबाज़ी के द्वारा उन लोगों ने 90 प्रतिशत जाली धन, आधारहीन करंसी के रूप में बना डाली और उसके स्वयं मालिक बन बैठे तथा समाज के सिर पर उसको ऋण के रूप में लादकर उसपर ब्याज वसूल करने लगे। जबकि न तो उन्होंने इस माल को कमाया था, न किसी वैध रीति से उसके स्वामित्व के अधिकार उन्हें पहुँचे थे और न कोई धन वास्तव में था, जिसको विनिमय के माध्यम के रूप में बाज़ार में चलाना और उसके बदले वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त करना किसी सिद्धान्त और आर्थिक नियम के अनुसार वैध हो सकता था। एक सादे स्वभाव का व्यक्ति जब उनके इस करतूत का विवरण सुनेगा तो उसके मस्तिष्क में दण्ड संहिता की वे धाराएँ घूमने लगेंगी जो धोखे और जालसाज़ी के अपराधों से सम्बन्धित हैं और वह उसके बाद यह सुनने की आशा करेगा कि फिर सम्भवतः इन सुनारों पर मुक़दमा चलाया गया होगा, परन्तु वहाँ मामला उसके बिलकुल विपरीत हुआ। यह सुनार इस लगातार धोखाधड़ी से देश की 90 प्रतिशत दौलत के मालिक हो चुके थे। शासक वर्ग और अन्य लोग उनके ऋण के जाल में फँस चुके थे। सरकारें भी युद्ध और आन्तरिक वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनसे भारी ऋण ले चुकी थीं। अब किस का साहस था कि जो यह प्रश्न उठा सकता कि ये लोग कहाँ से इतनी बड़ी पूँजी के मालिक हो गए। प्राचीन जागीरदारी व्यवस्था की तुलना में जो नया पूँजीवादी कल्चर—खुलेपन, स्वतंत्रता और लोकतंत्र के हथियारों को लेकर यूरोप के पुनरुत्थान काल में फैला, उस अभियान के लीडर यही साहूकार और व्यापारी लोग जिनके पीछे दर्शन, साहित्य और आर्ट के नाम पर एक बड़ी फ़ौज प्रत्येक उस व्यक्ति तथा गरोह पर हल्ला बोल देने के लिए तैयार थी जो 'मिस्टर गोल्ड स्मिथ' की विशाल पूँजी का स्रोत पूछने का साहस करता। इस प्रकार वह दग़ाबाज़ी और जालसाज़ी जिससे यह दौलत बनाई गई थी, क़ानून की पकड़ से न केवल बची रही, वरन् क़ानून ने इसको पूर्ण वैध मान लिया और सरकारों ने इन सुनारों का जो अब बैंकर

और फ़ाइनेंसर बन चुके थे, यह अधिकार स्वीकार कर लिया कि वे करंसी नोट जारी करें और उसके जारी किए हुए नोट विधिवत 'पत्र मुद्रा' की हैसियत से कारोबारी दुनिया में चलने लगे।[1]

दूसरा चरण

यह थी उस पूँजी की असलियत जिसके बल-बूते पर प्राचीन स्वर्णकार आधुनिक युग के साहूकार तथा अपार धन-दौलत के मालिक बन बैठे। इसके पश्चात् उन्होंने एक क़दम और बढ़ाया जो पहले से भी अधिक घातक था।

जिस समय में यह नई साहूकारी इस बनावटी पूँजी से शक्ति पाकर सिर उठा रही थी, यह वही दौर था जब यूरोप में एक ओर उद्योग और व्यापार की मानो बाढ़ आई हुई थी तथा सम्पूर्ण विश्व पर छा जाना चाहती थी, दूसरी ओर सभ्यता और कल्चर का नया भवन बनाया जा रहा था जो यूनिवर्सिटियों से लेकर म्यूनिसिपल्टियों तक जीवन के हर क्षेत्र का नव-निर्माण चाहती थी। इसके लिए प्रत्येक प्रकार के आर्थिक और सामाजिक कार्यों हेतु धन की आवश्यकता थी। नए-नए उद्योग और व्यापार अपने आरम्भ के लिए पूँजी की माँग कर रहे थे। पहले से चलते हुए कारोबार को बढ़ाने के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी की माँग थी और सामाजिक उन्नति के अनेक व्यक्तिगत और सामूहिक प्रस्ताव भी आरम्भ और विकास के लिए इसी चीज़ के ज़रूरतमन्द थे। इन सब कार्यों के लिए स्वयं कार्यरत लोगों की पूँजी पर्याप्त नहीं थी। अब मात्र दो ही माध्यम थे, जिनसे इस आधुनिक कल्चर की जवानी को शक्ति दी जा सकती थी—

1. वह धन जो पूर्व सुनारों और वर्तमान साहूकारों के पास था।
2. वह धन जो मध्यम वर्ग और अमीर लोगों के पास उनकी बचत के रूप में जमा था।

इनमें से पहली प्रकार का धन तो था ही साहूकारों के अधिकार में और

1. आगे चलकर पत्र-मुद्रा निर्गमन का अधिकार देशों के केन्द्रीय बैंकों को दिया गया। (अनुवादक)

वे पहले से ही इसपर ब्याज खा रहे थे, इसलिए इसका एक पैसा भी साझेदारी के सिद्धान्त पर किसी काम में लगने के लिए तैयार न था। इस माध्यम से जितना धन भी उद्यमियों, व्यापारियों और अन्य आर्थिक तथा सामाजिक कामगारों को मिला वह ऋण-स्वरूप मिला और इस शर्त पर कि चाहे उनको लाभ हो या हानि और चाहे लाभ कम हो या अधिक बहरहाल साहूकारों को एक निर्धारित दर के अनुसार लाभ देना होगा।

इसके पश्चात् केवल दूसरा माध्यम ही ऐसा था जिससे कारोबार और विकास के कार्यों की ओर पूँजी पर्याप्त मात्रा में आ सकती थी, मगर इन साहूकारों ने एक ऐसी चाल चली जिससे यह माध्यम भी उन्हीं के क़ब्ज़े में चला गया और उन्होंने इसके लिए भी पूँजी के सामाजिक और वित्तीय मामलों की ओर जाने के सभी द्वार एक ब्याज के ऋण के द्वार के अतिरिक्त बन्द कर दिए। वह चाल यह थी कि उन्होंने ब्याज का लालच देकर ऐसे सभी लोगों का धन अपने पास खींचना आरम्भ कर दिया जो अपनी आवश्यकता से अधिक आमदनी बचाकर रखते थे, अथवा अपनी ज़रूरतें रोककर कुछ-न-कुछ बचत करते थे। ऊपर बताया जा चुका है कि ये सुनार साहूकार पहले से ही इस प्रकार के लोगों के सम्पर्क में थे और इनकी जमा पूँजी उन्हीं के पास अमानत के रूप में रखी रहती थी। जब उन्होंने देखा कि ये लोग अपनी पूँजी को कारोबार में निवेश कर रहे हैं और उनकी बचत की राशि हमारे पास आने के बजाए कम्पनियों के शेयर ख़रीदने में अधिक ख़र्च होने लगी है तो उन्होंने कहा कि आप लोग इस झंझट में क्यों पड़ते हैं? इस तरह तो निवेश के मामले आपको स्वयं तय करने होते और स्वयं हिसाब-किताब रखना होगा, सबसे बढ़कर यह कि इसमें आप हानि के जोखिम में भी पड़ेंगे और लाभ का उतार-चढ़ाव भी आपकी आय को प्रभावित करता रहेगा। इसके स्थान पर आप अपनी धन-राशि हमारे पास जमा कराइए, हम उसकी सुरक्षा शुल्करहित करेंगे, हिसाब-किताब भी मुफ़्त रखेंगे और आपसे कुछ लेने के बजाए उलटा आपको ब्याज देंगे।

यह वह चाल थी जिससे 90 प्रतिशत, बल्कि उससे भी अधिक बचत की रक़में सीधे आर्थिक कार्यों की ओर जाने के स्थान पर साहूकार के हाथ

में चली गईं और लगभग सम्पूर्ण निवेश-योग्य पूँजी पर उसका क़ब्ज़ा हो गया। अब स्थिति यह हो गई कि साहूकार अपनी बनावटी पूँजी को तो ब्याज पर चला ही रहा था, दूसरों की पूँजी भी उसने सस्ती दर लेकर अधिक ब्याज-दर पर उधार देना आरम्भ कर दिया। उसने यह बात असम्भव बना दी कि उसकी निर्धारित की हुई दर के अतिरिक्त किसी दूसरी शर्त पर किसी कार्य के लिए कहीं से कोई पूँजी मिल सके। जो थोड़े-बहुत लोग ऐसे रह भी गए जो साहूकार के माध्यम से पूँजी का निवेश करने के बजाए स्वयं कारोबार में निवेश करना पसन्द करते थे, उनको भी एक लगा-बन्धा लाभ प्राप्त करने की चाट लग गई और वे सीधे-सादे हिस्से ख़रीदने के स्थान पर ऋण-पत्र को पसन्द करने लगे, जिनमें निर्धारित ब्याज की गॉरंटी होती है।

इस पद्धति ने विभाजन को पूरा कर दिया। वह पूरी आबादी एक ओर हो गई जो अर्थव्यवस्था और समाज के 'खेतों' में काम करती है, जिसके परिश्रम, प्रयास और क्षमताओं ही पर सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक उपज की निर्भरता होती है और दूसरी ओर थोड़ी-सी जनसंख्या हो गई जिसपर इन सारी 'खेतियों' की सिंचाई की ज़िम्मेदारी है। पानीवालों ने खेतीवालों के साथ हमदर्दी और न्यायपूर्ण सहयोग करने से इनकार कर दिया और यह स्थाई नीति बना ली कि वह पानी के इस पूरे भण्डार को सामूहिक हित के आधार पर नहीं, बल्कि केवल अपने हित और मात्र वित्तीय लाभ के आधार पर प्रयुक्त करेंगे।

इस कार्य-पद्धति ने निश्चित कर दिया कि पश्चिम का नवजात कल्चर जो पूरी दुनिया पर शासन करनेवाला था, एक शुद्ध भौतिकवादी कल्चर हो और ब्याज-दर पर आधारित हो जिसके अनुसार अन्ततः प्रत्येक वस्तु की क़ीमत का निर्धारण हो। इसलिए कि सभ्यता की पूरी खेती की निर्भरता तो है पूँजी के अमृत पर और इस अमृत की प्रत्येक बून्द की एक आर्थिक क़ीमत निर्धारित है ब्याज-दर के अनुसार। अतः प्रत्येक सभ्यता की खेती में यदि किसी चीज़ के बीज का रोपण किया जा सकता है और यदि कोई उपज मूल्यवान हो सकती है तो बस वह जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अपना वित्तीय लाभ कम-से-कम इस सीमा तक दे जाए जो इस कल्चर के 'नेता' अर्थात्

साहूकार ने ब्याज-दर के तौर पर तय कर रखी है।

इस कार्य-पद्धति ने क़लम और तलवार दोनों के शासन का युग समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर बही-खाते का शासन स्थापित कर दिया। ग़रीब किसान और श्रमिकों से लेकर बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक संस्थाओं तक और बड़ी-से-बड़ी सरकारों तक सबकी नाक में एक अदृश्य नकेल पड़ गई और उसका छोर साहूकार के हाथ में आ गया।

तीसरा चरण

इसके पश्चात् इस वर्ग ने एक तीसरा क़दम उठाया और अपने कारोबार को वह रूप दिया जिसे अब आधुनिक साहूकारी व्यवस्था (बैंकिंग) कहा जाता है। पहले ये लोग व्यक्तिगत हैसियत से कार्य करते थे, यद्यपि कुछ साहूकार घरानों की वित्तीय व्यवस्था बढ़ते-बढ़ते विशालकाय संस्थाओं का रूप धारण कर गई थी, जिनकी शाखाएँ दूरस्थ स्थानों पर स्थापित हो गई थीं, तथापि ये अलग-अलग घराने थे और अपने ही नाम पर कार्य करते थे। फिर इनको यह सूझी कि जिस प्रकार व्यापार के सभी क्षेत्रों में संयुक्त पूँजी की कम्पनियाँ स्थापित हो रही है, रुपये के कारोबार की भी कम्पनियाँ बनाई जाएँ और बड़े पैमाने पर उनका प्रबन्धन किया जाए। इस प्रकार ये बैंक अस्तित्व में आए जो आज पूरे विश्व की वित्तीय व्यवस्था पर क़ाबिज़ है और चला रहे हैं।

इस नए संगठन की कार्य-पद्धति संक्षेप में यह है कि कुछ पूँजीधारक लोग मिलकर साहूकारी की एक संस्था स्थापित करते हैं, जिसका नाम बैंक है। इस संस्था में दो प्रकार की पूँजी प्रयुक्त होती है—एक अंशधारियों की पूँजी जिससे कार्य प्रारम्भ किया जाता है, दूसरा जमाकर्ताओं या खातेदारों की पूँजी, जो बैंक का काम बढ़ने के साथ अधिक-से-अधिक मात्रा में मिलती जाती है और इसी के सहारे बैंक के प्रभाव और उसकी शक्ति में वृद्धि होती चली जाती है। एक बैंक की वास्तविक सफलता का पैमाना यह है कि उसकी अपनी पूँजी (अर्थात् अंशधारियों द्वारा लगाया गया धन) कम-से-कम हो और जमाराशियाँ अधिक-से-अधिक हों। मगर दिलचस्प बात यह है कि बैंक

अपना सम्पूर्ण कारोबार तो चलाता है जमाकर्ताओं के धन से, जिनका जमा किया हुआ धन बैंक की कुल पूँजी में 98 प्रतिशत तक होता है, परन्तु बैंक के प्रबन्ध-तन्त्र और उसकी नीति निर्धारण में उन जमाकर्ताओं का कोई दख़ल नहीं होता। यह चीज़ पूर्णरूप से उन अंशधारियों (शेयर होल्डर्स) के हाथ में होती है जो बैंक के मालिक होते हैं और जिसकी पूँजी कुल जमा पूँजी की 2 या 3 प्रतिशत होती है।[1]

जमाकर्ताओं का काम केवल इतना है कि वे अपना धन बैंक के हवाले कर दें और उससे एक विशेष दर पर ब्याज प्राप्त करते रहें। रही यह बात कि बैंक इस धन को किस प्रकार प्रयोग में लाते हैं तो वह इस मामले में बोलने का अधिकार नहीं रखते, यह अधिकार अंशधारियों (शेयर होल्डर्स) का है, वही प्रबन्धकों का चयन करते हैं, वही नीति निर्धारित करते हैं, वे प्रबन्ध देखते और हिसाब-किताब की निगरानी करते हैं और उन्हीं के अनुसार इस बात का निर्णय होता है कि पूँजी किधर जाए और किधर न जाए। फिर अंशधारियों में सब समान नहीं होते। बिखरे हुए छोटे अंशधारियों का प्रभाव बैंक के प्रबन्ध-तन्त्र में नाम मात्र का होता है। वास्तव में कुछ बड़े और 'भारी-भरकम' अंशधारी ही धन-सम्पत्ति की इस झील पर क़ाबिज़ होते हैं और वही अपने हिसाब से इसका प्रयोग करते हैं।

बैंक वैसे तो अनेक छोटे-बड़े काम करता है, जिनमें से कुछ निस्सन्देह हितकर, आवश्यक तथा जाइज़ भी हैं, परन्तु उसका अस्ल कार्य पूँजी को ब्याज पर चलाना होता है। बैंक कोई व्यापार, व्यवसाय या कृषि नहीं करता, बल्कि उनको पूँजी जुटाता है और उनसे ब्याज वुसूल करता है। उसके लाभ का सबसे बड़ा स्रोत यह होता है कि जमाकर्ताओं से कम ब्याज-दर पर पूँजी प्राप्त करे और कारोबारी लोगों को अधिक दर पर उधार दे। इस रीति से जो आय होती है, वह अंशधारियों में इस प्रकार वितरित होती है जिस प्रकार सभी व्यापारिक संस्थाओं की आय उनके साझेदारों में वितरित हुआ करती है।

---

1. सरकारी बैंकों में प्रबन्धन का पूर्ण अधिकार सरकार का होता है। जमाकर्ताओं को प्रबन्ध में अधिकार नहीं होता। (अनुवादक)

परिणाम

इस रीति से साहूकार को संगठित कर लेने का परिणाम यह हुआ कि पहले ज़माने के असंगठित महाजनों की तुलना में आज के इकट्ठे और संगठित साहूकारों का सम्मान, प्रभाव और भरोसा कई गुणा बढ़ गया और देश-भर की दौलत सिमटकर उनके पास जमा हो गई। अब अरबों, खरबों की पूँजी एक-एक बैंक में इकट्ठा हो जाती है, जिसपर कुछ प्रभावशाली साहूकार क़ाबिज़ हो जाते हैं और इसपर अत्यन्त स्वार्थी ढंग से 'शासन' करते रहते हैं। अब प्रत्येक व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि जिन बैंकरों के पास इतनी विशाल पूँजी इकट्ठी हो, वह देश के उद्योग, व्यापार, अर्थव्यवस्था, राजनीति और कल्चर पर कितना प्रभाव डाल रहे होंगे, और यह प्रभाव क्या देश और जनता के हित में होगा, अथवा इन स्वार्थी लोगों के अपने हित में?

स्पष्ट है कि इतने बड़े पैमाने पर पूँजी घर-घर से खिँचकर कुछ हाथों में जमा हो रही है। फिर जिनके पास वह इकट्ठी हो रही है, वे न किसी को जवाबदेह हैं और न किसी दूसरे से निर्देश लेनेवाले और न अपने स्वार्थ के अतिरिक्त किसी और चीज़ पर ध्यान देनेवाले हैं। वे बस ब्याज के रूप में इस विशाल भण्डार का 'किराया' अदा कर देते हैं और व्यावहारिक रूप से इस धन के मालिक बन जाते हैं, फिर इस शक्ति के बल पर वे राष्ट्रों के भाग्य से खेलते हैं। जहाँ चाहते हैं अकाल पड़ जाता है, जब चाहते हैं युद्ध कराते हैं, जब चाहते हैं सन्धि कराते हैं। जिस चीज़ को अपने दृष्टिकोण से लाभदायक समझते हैं, उसे बढ़ावा देते हैं और जिस चीज़ से मुँह मोड़ते हैं, उसे सभी साधनों से वंचित कर देते हैं। केवल मंडियों और बाज़ारों पर ही उनका क़ब्ज़ा नहीं, शिक्षा और साहित्यिक संस्थाओं, वैज्ञानिक शोध के केन्द्रों, मीडिया हाउसों, धार्मिक संस्थाओं, शासन-प्रशासन सबपर उनकी 'हुकूमत' चल रही है, क्योंकि धन का भण्डार उनके पास है।

यह है वह बड़ी आपदा जिसकी विनाशकारिता देख-देखकर स्वयं पश्चिमी देशों के सोचने-समझनेवाले लोग चीख़ रहे हैं और वहाँ विभिन्न

दिशाओं से यह आवाज़ उठ रही है कि वित्त की इतनी विशाल शक्ति एक छोटे-से अनुत्तरदाई स्वार्थी वर्ग के हाथ में जमा हो जाना सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त घातक है, परन्तु हमारे यहाँ ये तक़रीरें हो रही हैं कि ब्याज खाना तो पुराने महाजनों का हराम और अपवित्र कारोबार था, आज का मॉडर्न बैंकर तो बेचारा बड़ा ही पवित्र कारोबार कर रहा है, उसके कारोबार में रुपया लगाना और उससे अपना हिस्सा लेना आख़िर क्यों हराम है? जबकि वास्तव में पुराने महाजनों और आज के बैंकरों में कोई अन्तर है तो वह केवल इतना है कि पहले ये लोग अकेले-अकेले लूटते थे, अब इन्होंने उसके लिए बड़े-बड़े गरोह बना लिए हैं।

विडम्बना यह है कि इसी 'किराए' (विनाशकारी ब्याज) के लिए हमसे कहा जाता है कि इसे हलाल (वैध) और पवित्र घोषित किया जाना चाहिए।

ब्याज-सम्बन्धी अन्य चीज़ें

ब्याज से सम्बन्धित इस्लामी आदेश

ऊपर जो बयान किया गया वह हमारी विवेचना का बौद्धिक पक्ष था, अब हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि क़ुरआन और ख़ुदा के पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) की शिक्षाओं के अन्तर्गत 'ब्याज' क्या चीज़ है? उसकी सीमाएँ क्या हैं? इस्लाम में उसके वर्जित होने के जो आदेश आए हैं, वे किन मामलों के बारे में हैं और इस्लाम उसको समाप्त करके इनसान की आर्थिक गतिविधियों को किस रीति से चलाना चाहता है।

क़ुरआन में ब्याज के लिए अरबी शब्द 'रिबा' प्रयुक्त हुआ है जिससे तात्पर्य माल की ज़्यादती (अधिकता) तथा उसका 'मूल' से बढ़ जाना है। इस अर्थ को स्वयं क़ुरआन में भी व्यक्त कर दिया गया है—

> "और जो कुछ तुम्हारा ब्याज लोगों पर बाक़ी रह गया है, उसे छोड़ दो...(और यदि तुम प्रायश्चित कर लो) तो अपना मूलधन लेने का तुम्हें अधिकार है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-278, 279)

> "जो ब्याज तुम देते हो ताकि वह लोगों के मालों में सम्मिलित होकर बढ़ जाए, अल्लाह की दृष्टि में वह नहीं बढ़ता।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-30 रूम, आयत-39)

क़ुरआन के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मूलधन पर जो अधिकता होगी वह 'रिबा' कहलाएगी। परन्तु क़ुरआन ने प्रत्येक अधिकता को वर्जित घोषित नहीं किया है। वह एक विशेष प्रकार की अधिकता है, इसलिए उसे

'अल-रिबा' (विशेष बढ़ोत्तरी) कहा गया जो इस्लाम से पूर्व भी अरब में चलन में था और वे उसे जाइज़ समझते थे, जैसे आज भी समझा जाता है। इस्लाम ने स्पष्ट किया कि मूलधन में जो वृद्धि व्यापार द्वारा होती है वह उस बढ़ोत्तरी से भिन्न है जो अल-रिबा से हुआ करती है। प्रथम प्रकार की वृद्धि वैध है जबकि दूसरी प्रकार की वर्जित है।

> "उन (ब्याज खानेवालों) की इस हालत में फँस जाने का कारण यह है कि वे कहते हैं, 'व्यापार भी तो आख़िर अल-रिबा (ब्याज) के सदृश है', जबकि अल्लाह ने व्यापार को वैध ठहराया है और ब्याज को अवैध।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-275)

चूँकि अल-रिबा एक विशेष प्रकार की वृद्धि का नाम था जिसे सब जानते थे, इसलिए क़ुरआन में उसकी कोई व्याख्या नहीं की गई और केवल यह कह दिया गया कि अल्लाह ने इसे वर्जित किया है, इसे छोड़ दो।

इस्लाम से पूर्व ब्याज की प्रचलित शक्लें

इस्लाम से पूर्व के ज़माने में अल-रिबा अर्थात् ब्याज की कई शक्लों का उल्लेख मिलता है—

- क़तादा (रह॰) कहते हैं कि अज्ञानताकाल के ब्याज का एक तरीक़ा यह था कि एक व्यक्ति किसी को अपनी चीज़ बेचता और मूल्य चुकाने के लिए एक निर्धारित अवधि तक अवसर देता। यदि वह अवधि गुज़र जाती और मूल्य नहीं चुकाया जाता तो फिर और समय दे दिया जाता और क़ीमत में वृद्धि कर देता।
- मुजाहिद (रह॰) कहते हैं कि अज्ञानताकाल में ब्याज का तरीक़ा यह था कि एक व्यक्ति किसी से ऋण लेता और कहता कि तू मुझे इतना समय दे तो मैं इतना ज़्यादा दूँगा। (इब्ने-जरीर, भाग-3)
- अबू-बक्र जस्सास (रह॰) के शोध के अनुसार, अज्ञानताकाल में लोग एक-दूसरे से ऋण लेते तो यह तय हो जाता कि इतनी अवधि में इतनी धनराशि मूलधन से अधिक दी जाएगी। (अहकामुल-क़ुरआन, भाग-1)

- इमाम राज़ी (रह०) के शोध के अनुसार, अज्ञानताकाल के लोगों का तरीक़ा था कि वे एक व्यक्ति को निर्धारित अवधि के लिए रक़म देते और उससे हर महीने एक नियत रक़म ब्याज के रूप में वुसूल करते रहते। जब वह अवधि समाप्त हो जाती तो मूलधन की माँग की जाती। अगर वह अदा न कर पाता तो फिर एक निर्धारित अवधि के लिए मुहलत दी जाती और ब्याज में वृद्धि कर दी जाती।

(तफ़सीर कबीर, भाग-2)

लेन-देन के ये तरीक़े और शक्लें अरब में प्रचलित थीं, जिन्हें अरबवासी अपनी भाषा में 'अल-रिबा' कहते थे और यह वह चीज़ थी जिसपर प्रतिबन्ध का आदेश क़ुरआन में अवतरित हुआ।

व्यापार और ब्याज में सैद्धान्तिक अन्तर

अब इस बात पर विचार कीजिए कि व्यापार और ब्याज में सैद्धान्तिक अन्तर क्या है? ब्याज की वे क्या विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह व्यापार से भिन्न हो जाता है? और इस्लाम ने किस कारण इससे रोका है?

कारोबारी मामला यह है कि बेचनेवाला व्यक्ति एक वस्तु को बेचने के लिए प्रस्तुत करता है। ख़रीदनेवाले और बेचनेवाले के बीच उस वस्तु की एक क़ीमत तय होती है और उस क़ीमत के बदले में ख़रीदार उस वस्तु को ले लेता है। इसमें दो स्थितियाँ अवश्य होती हैं—या तो बेचनेवाले ने वह वस्तु खुद मेहनत और अपना माल उसपर ख़र्च करके उत्पादित की हो, या वह किसी दूसरे उत्पादक से उसे ख़रीदकर करके लाया हो। दोनों स्थितियों में वह अपनी मूल रक़म पर जो उसने उत्पादन में या ख़रीदने करने में लगाई हो, अपने परिश्रम का प्रतिफल पाने का अधिकारी है और यही उसका लाभ है।

इसकी तुलना में ब्याज यह है कि एक व्यक्ति अपना माल दूसरे को उधार देता है और यह तय करता है कि मैं इतनी अवधि में अपने मूलधन पर इतनी रक़म अधिक लूँगा। इस मामले में मूलधन के सापेक्ष मूलधन है और मुहलत के बदले वह अधिक रक़म है जिसका निर्धारण पहले ही एक

शर्त के रूप में कर लिया गया है। इसी अधिक रक़म का नाम ब्याज है जो किसी विशेष धन या वस्तु का प्रतिफल नहीं, बल्कि केवल मुहलत का प्रतिफल होता है। क्रय-विक्रय के सौदे में भी यदि मूल्य तय हो चुका हो, फिर ख़रीदार से यह शर्त तय की जाए कि मूल्य के भुगतान में एक महीने के विलम्ब पर मूल्य में इतनी वृद्धि की जाएगी और यदि अवधि और बढ़ेगी तो इतनी क़ीमत और बढ़ जाएगी तो यह बढ़ोत्तरी ब्याज की परिभाषा में आ जाएगी।

अतः ब्याज की परिभाषा यह हुई कि उधार दिए गए धन पर जो अतिरिक्त रक़म अवधि के सापेक्ष एक शर्त के रूप में निर्धारित की जाए वह ब्याज है अर्थात् (1) मूलधन पर बढ़ोत्तरी, (2) यह बढ़ोत्तरी अवधि के अनुसार हो, (3) मामले में बढ़ोत्तरी का अवधि के अनुसार होने की शर्त होना। ये तीन चीज़ें जिनसे ब्याज बनता है और प्रत्येक ऐसा ऋण का मामला जिसमें ये तीनों तत्व पाए जाते हों, वह एक ब्याज का मामला है, चाहे वह ऋण उत्पादक कार्यों के लिए हो या व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो और ऋण लेनेवाला चाहे ग़रीब हो या अमीर।

व्यापार और ब्याज में सैद्धान्तिक अन्तर यह है–

(1) व्यापार में क्रेता और विक्रेता (ख़रीदनेवाले और बेचनेवाले) का लाभ बराबरी से प्राप्त होता है, क्योंकि ख़रीदार उस वस्तु से फ़ायदा उठाता है जो उसने बेचनेवाले से ख़रीदी है और बेचनेवाला अपनी उस मेहनत, वृद्धि और समय का प्रतिफल लेता है जिसको उसने ख़रीदार के लिए वस्तु उपलब्ध करने में लगाया है। इसके विपरीत ब्याज के लेन-देन में लाभ बराबरी से नहीं मिलता। ब्याज लेनेवाला तो निर्धारित मात्रा में रक़म प्राप्त कर लेता है जो उसके लिए निश्चित रूप से लाभकारी है, परन्तु इसके विपरीत ब्याज देनेवाले को केवल समय की मुहलत मिलती है, जिसका लाभकारी होना निश्चित नहीं। यदि ऋणी ने अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं हेतु ऋण लिया है तब तो समय की मुहलत उसके लिए फ़ायदेमन्द नहीं, बल्कि नुक़सानदेह है। और यदि उसने यह क़र्ज़ व्यापार, व्यवसाय या खेती में लगाने के लिए लिया है तो मुहलत

में जिस तरह उसके लिए लाभ की सम्भावना है, उसी प्रकार से हानि का भी ख़तरा है, जबकि ऋणदाता प्रत्येक दशा में उससे अपने लाभ की एक निर्धारित रक़म वुसूल कर लेता है, चाहे उसको अपने कारोबार में लाभ हो या हानि। अतः ब्याज का मामला या तो एक पक्ष के लाभ और दूसरे की हानि पर होता है अथवा एक के लिए निश्चित और निर्धारित लाभ और दूसरे के लिए अनिश्चित तथा अनिर्धारित लाभ पर।

(2) ख़रीदने-बेचने के सौदे में बेचनेवाला ख़रीदनेवाले से चाहे कितना ही अधिक लाभ वुसूल कर ले, बहरहाल वह यह लाभ केवल एक बार ही ले सकता है, परन्तु ब्याज के मामले में ऋणदाता अपने धन पर लगातार लाभ वुसूल करता रहता है और समय की गति के साथ-साथ उसका 'मुनाफ़ा' भी बढ़ता चला जाता है। ऋणी ने उसके धन से चाहे जितना भी लाभ कमाया, फिर भी उसका लाभ एक सीमा के अन्दर ही होगा, परन्तु उस ऋण के प्रतिफल में ऋणदाता जो फ़ायदा उठाता है, उसकी कोई सीमा नहीं। सम्भव है वह उसकी पूरी कमाई, उसके सभी संसाधनों पर अधिकार कर ले और फिर भी यह सिलसिला समाप्त न हो।

(3) ख़रीदने-बेचने के लेन-देन में वस्तु और उसके मूल्य का विनिमय होते ही मामला समाप्त हो जाता है। उसके बाद ख़रीदार को कोई चीज़ बेचनेवाले को नहीं देनी होती, परन्तु ब्याज के मामले में ऋणी प्राप्त मूलधन को ख़र्च कर चुकता है, फ़िर ख़र्च किए हुए माल को पुनः प्राप्त करके ब्याज की वृद्धि के साथ वापस देना पड़ता है।

(4) व्यापार उद्योग और कृषि में इनसान मेहनत और बुद्धि लगाता है तथा उसका फ़ायदा लेता है, मगर ब्याज के कारोबार में वह मात्र अपनी आवश्यकता से अधिक माल देकर किसी परिश्रम के बग़ैर दूसरों की कमाई में बड़ा हिस्सेदार बन जाता है। उसकी हैसियत उस साझेदार की-सी नहीं होती जो लाभ और हानि दोनों में शरीक होता है और लाभ में भागीदारी कारोबार में लाभ के अनुपात में होती है, बल्कि वह ऐसा साझेदार होता है जो कारोबारी लाभ-हानि तथा उसके लाभ के अनुपात की अनदेखी करके केवल निर्धारित लाभ का दावेदार होता है।

ब्याज क्यों मना है?

ये हैं वे कारण जिनके आधार पर अल्लाह ने व्यापार को वैध (Permissible) और ब्याज को वर्जित घोषित किया है। इसके अतिरिक्त ब्याज को वर्जित करने के कुछ अन्य कारण भी हैं। ब्याज इनसान में कंजूसी, स्वार्थपरता, कठोरता, निर्दयता और धनलोलुपता पैदा करता है। वह एक क़ौम से दूसरी क़ौम में शत्रुता डालता है। वह लोगों में हमदर्दी और सहकारिता के सम्बन्ध समाप्त करता है। वह लोगों में धन जमा करने और केवल अपने व्यक्तिगत हित के विकास पर लगाने की मानसिकता पैदा करता है। वह सोसाइटी में धन के स्वतंत्र बहाव में बाधक होता है, बल्कि धन के बहाव की दिशा उलटकर ग़रीबों से मालदारों की ओर फेर देता है, जिसके कारण जनमानस की दौलत सिमटकर एक ग्रुप के पास इकट्ठी होती चली जाती है। यह स्थिति अन्ततः सम्पूर्ण सोसाइटी के लिए बर्बादी का कारण बनती है। यह तथ्य अर्थशास्त्र का ज्ञान रखनेवालों से छिपा नहीं है। ब्याज के ये सभी कुप्रभाव ऐसे हैं जिनका इनकार नहीं किया जा सकता और साथ ही इस वास्तविकता से भी इनकार सम्भव नहीं है कि इस्लाम जिस नक़्शे पर इनसान का नैतिक प्रशिक्षण, सामाजिक संगठन और आर्थिक प्रबन्धन करना चाहता है, उसके प्रत्येक अंग से ब्याज पूर्णरूपेण प्रतिकूल है तथा ब्याज के कारोबार की छोटी-से-छोटी और सरसरी तौर पर हानिप्रद न दिखनेवाली स्थिति भी इस्लाम के इस पूरे नक़्शे को ख़राब कर देती है। यही कारण है कि क़ुरआन में अल्लाह ने बड़े ही कठोर शब्दों में ब्याज को प्रतिबन्धित करने का आदेश दिया है—

> "अल्लाह से डरो और जो कुछ तुम्हारा ब्याज लोगों पर बाक़ी रह गया है उसे छोड़ दो, अगर वास्तव में तुम ईमानवाले हो। लेकिन यदि तुमने ऐसा न किया तो सावधान हो जाओ कि अल्लाह और उसके रसूल की ओर से तुम्हारे विरुद्ध युद्ध की घोषणा है।"
>
> (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयतें-278, 279)

ब्याज के वर्जित करने के आदेश में कठोरता

क़ुरआन में अन्य कई अपराधों की मनाही का आदेश है और उनपर

कठोर अप्रसन्नता व्यक्त की गई है, परन्तु इतने कठोर शब्द किसी दूसरे गुनाह के बारे में नहीं है।[1] इसी कारण ख़ुदा के पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) ने इस्लामी राज्य की सीमा में ब्याज को रोकने के लिए कठिन प्रयास किए। आप (सल्ल॰) ने नजरान के ईसाइयों से जो समझौता किया, उसमें स्पष्ट रूप से लिख दिया कि अगर तुम ब्याज का कारोबार करोगे तो समझौता समाप्त हो जाएगा और हमको तुमसे जंग करना पड़ेगी। बनू-मुग़ीरा क़बीले के लोग ब्याज खाने के मामले में अरब में प्रसिद्ध थे। मक्का-विजय के बाद आप (सल्ल॰) ने उनकी ब्याज-सम्बन्धी सभी रक़में निरस्त कर दीं और अपने सम्बन्धित कर्मचारी को निर्देश दिया कि यदि वे न मानें तो उनसे जंग करो। स्वयं हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के चाचा हज़रत अब्बास (रज़ि॰) एक बड़े महाजन थे। अपने हज के अवसर पर पैग़म्बर (सल्ल॰) ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि अज्ञानताकाल के सभी ब्याज समाप्त किए जाते हैं और सबसे पहले मैं स्वयं अपने चाचा अब्बास का ब्याज निरस्त करता हूँ। उन्होंने यह भी कहा कि ब्याज लेने-देनेवाले, उसका दस्तावेज़ लिखनेवाले और उसपर गवाही देनेवाले सबपर अल्लाह की लानत (ईश्वर का प्रकोप।

इन सभी आदेशों का उद्देश्य यह न था कि केवल ब्याज की एक विशेष प्रकार अर्थात् महाजनी ब्याज को बन्द किया जाए और उसके अतिरिक्त सभी प्रकार के ब्याज का द्वार खुला रहे, बल्कि वास्तविक उद्देश्य पूँजीवादी प्रवृत्ति, पूँजीवादी स्वभाव, पूँजीवादी कल्चर और पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली को पूर्णरूप से उखाड़कर वह व्यवस्था स्थापित करना था जिसमें कंजूसी के बजाय उदारता हो, स्वार्थपरता के बजाय हमदर्दी और आपसी सहयोग हो, ब्याज के बजाय ज़कात हो, बैंक के स्थान पर राष्ट्रीय कोष हो और वे स्थितियाँ ही न पैदा हों जिनसे बचने के लिए पूँजीवादी प्रणाली में सहकारी सोसाइटियों, बीमा कम्पनियों और भविष्य-निधियों की आवश्यकता पड़े और अन्ततः साम्यवाद की अस्वाभाविक प्रणाली को अपनाना पड़े।

---

1. हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के एक कथन के अनुसार—ब्याज़ का गुनाह अपनी माँ के साथ ज़िना करने से सत्तर गुना अधिक है। (हदीस : इब्ने-माजा)

वस्तु विनिमय में बढ़ोत्तरी और ब्याज

हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि 'रिबा' (ब्याज) उस अतिरिक्त रक़म या फ़ायदे को कहते हैं जो ऋण के मामले में एक ऋणदाता मूलधन के अतिरिक्त शर्त के तौर पर अपने ऋणी से वुसूल करता है। पवित्र क़ुरआन में इसको अवैध (हराम) घोषित किया गया है। इसपर मुस्लिम समुदाय एक मत है। इसमें कभी कोई शक और सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ।

परन्तु इस्लामी शरीअत के नियमों में एक नियम यह भी है कि जिस चीज़ को हराम घोषित किया जाता है, उसकी ओर जाने के जितने मार्ग भी हो सकते हैं, उन सबको बन्द कर दिया जाता है, बल्कि उस ओर बढ़ने का आरम्भ जिस स्थान से होता है, वहीं रोक लगा दी जाती है, ताकि इनसान उसके निकट भी न जाने पाए। ख़ुदा के पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने इसका उदाहरण किसी की अपने लिए आरक्षित चरागाह से दिया। उन्होंने कहा—

> "हर राजा की एक आरक्षित चरागाह होती है और अल्लाह की चरागाह उसके हुदूद (नियम-क़ानून) हैं, जिनसे बाहर क़दम निकालने को उसने वर्जित कर दिया है। जो जानवर आरक्षित चरागाह के आसपास चरता-फिरता है, सम्भव है कि वह चरते-चरते चरागाह की सीमा में भी प्रवेश कर ले। इसी प्रकार जो व्यक्ति अल्लाह की चरागाह अर्थात् उसके वर्जित चीज़ों के आसपास चक्कर लगाता रहता है, उसके लिए हर समय यह ख़तरा है कि

कब उसका पैर फिसल जाए और वह हराम कार्य कर बैठे। अतः जो चीज़ें हलाल (अनुमन्य) और हराम (प्रतिबन्धित) के बीच की हैं उनसे भी बचना अनिवार्य है, ताकि तुम्हारा धर्म सुरक्षित रहे।"

(हदीस)

यही मस्लहत है जिसके मद्देनज़र तत्वदर्शी ईश्वर ने हर वर्जित चीज़ के चारों ओर प्रतिबन्ध और मन में बुरा समझने की एक रोक खड़ी कर दी है और वर्जित कार्य को करने के सभी माध्यमों पर निकट व दूर को ध्यान में रखते हुए कठोर या नर्म पाबन्दियाँ लगा दी हैं।

ब्याज के मामले में प्रारम्भिक आदेश केवल यह था कि ऋण के सम्बन्ध में जो ब्याज-सम्बन्धी लेन-देन होता है, वह बिलकुल हराम (अवैध) है। परन्तु बाद में पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने ईश्वर द्वारा प्रदत्त सीमाओं के आसपास बन्दिशें लगाना आवश्यक समझा, ताकि लोग उसके निकट न पहुँच सकें। इस विषय के वे निर्देश हैं जिनमें ब्याज खाने और खिलाने के साथ दस्तावेज़ लिखने और उसपर गवाही देने को भी हराम किया गया है और इसी विषय से सम्बन्धित वे हदीसें हैं जिनमें रिबल-फ़ज़्ल (फ़ज़्लवाली बढ़ोत्तरी) की मनाही का आदेश दिया गया है।

रिबल-फ़ज़्ल का अभिप्राय

रिबल-फ़ज़्ल उस बढ़ोत्तरी को कहते हैं जो एक ही प्रकार की दो वस्तुओं के हाथों-हाथ लेन-देन के समय हो। हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने इसे अवैध घोषित किया, क्योंकि इससे अधिक वुसूली का द्वार खुलता है और इनसान में वह मानसिकता पनपती है जिसका अन्तिम परिणाम ब्याज खाना है। पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने इसके पीछे छिपे प्रेरक की ओर इस प्रकार संकेत किया, "एक दिरहम[1] को दो दिरहमों के बदले न बेचो, क्योंकि मुझे डर है कि कहीं तुम ब्याज खाने में न लग जाओ।"

1. उस ज़माने का सिक्का।

निर्देश

इस प्रकार के ब्याज से सम्बन्धित पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) के कुछ महत्वपूर्ण आदेश इस प्रकार हैं–

> "सोने की सोने से, चाँदी की चाँदी से, गेहूँ की गेहूँ से, जौ की जौ से, खुजूर की खुजूर से और नमक की नमक से अदला-बदली इस प्रकार हो कि जैसे को तैसा और बराबर-बराबर और हाथों-हाथ। यदि भिन्न प्रजातियों की वस्तुओं का एक-दूसरे से विनिमय हो तो जिस प्रकार चाहो करो शर्त यह है कि लेन-देन हाथों-हाथ हो जाए।" (हदीस : मुस्लिम)
>
> आप (सल्ल॰) ने यह आदेश भी दिया है–
>
> "गेहूँ का जौ से और जौ का गेहूँ से हाथों-हाथ विनिमय जिस प्रकार चाहे करो।" (हदीस : नसई, इब्ने-माजा, अबू-दाऊद)
>
> "खुजूर का विनिमय खुजूर से, गेहूँ का गेहूँ से, जौ का जौ से और नमक का नमक से ज्यों-का-त्यों और हाथों-हाथ होना चाहिए। जिसने अधिक दिया या अधिक लिया, उसने ब्याज का मामला किया, सिवाय इस स्थिति के कि इन वस्तुओं में भिन्नता हो।"[1]
> (हदीस : मुस्लिम)

इन निर्देशों का निष्कर्ष

इस विषय पर हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) के कथनों के आधार पर निम्न सिद्धान्त और नियम सामने आते हैं–

1. एक ही प्रजाति की दो वस्तुओं को बदलने की आवश्यकता केवल इसी स्थिति में होती है जब प्रजाति की समानता के होते हुए उनकी गुणवत्ता अलग हो। उदाहरण के लिए चावल और गेहूँ की एक क्वालिटी और दूसरी क्वालिटी, अच्छा स्वर्ण और घटिया स्वर्ण, खनिज नमक और

1. एक अन्य कथन के अनुसार खुजूर की गुणवत्ता में अन्तर होने पर उन्हें बेचकर दूसरी क्वालिटी की खुजूर क्रय करने का निर्देश दिया। (अनुवादक)

समुद्री नमक आदि। इन विभिन्न प्रकार की समान प्रजाति की वस्तुओं को एक-दूसरे के साथ बदलना यद्यपि बाज़ार भाव को ध्यान में रखकर हो। बहरहाल उनमें कमी या बढ़ोत्तरी के साथ विनिमय करने में उस सोच के पनपने का डर है जो अन्ततः ब्याज लेने और अवैध लाभ कमाने तक जा पहुँचती है। इसलिए इस्लामी क़ानून ने नियम बना दिया कि समान प्रजाति की वस्तुओं के विनिमय की यदि आवश्यकता पड़े तो अनिवार्य रूप से दो तरीक़ों में से ही कोई एक तरीक़ा अपनाना होगा। एक यह है कि उनकी क़ीमत में जो थोड़ा अन्तर हो उसे अनदेखा करके बराबर- सराबर विनिमय कर लिया जाए। दूसरा यह कि वस्तु से वस्तु का प्रत्यक्ष विनिमय करने के बजाए एक व्यक्ति अपनी वस्तु बाज़ार भाव पर बेच दे और दूसरे से उसकी वस्तु मार्केट रेट पर ख़रीदे।

2. उस ज़माने में दिरहम को दिरहम से और दीनार को दीनार से बदलने की ज़रूरत ऐसे अवसरों पर पड़ती थी जबकि उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को इराक़ी दिरहम के बदले रूमी दिरहम चाहिए होते या रूमी दीनार के बदले ईरानी दीनार की आवश्यकता होती। ऐसे अवसरों पर यहूदी साहूकार और दूसरे अवैध लाभ कमानेवाले लोग कुछ इस तरह का अवैध लाभ वुसूल करते थे, जैसा कि आजकल विदेशी मुद्रा के विनिमय में कमीशन लिया जाता है या देश में ही रेज़गारी या नोट भुनाने पर कटौती करते हैं। यह चीज़ भी ब्याज खाने की मानसिकता ही की ओर ले जानेवाली है, इसलिए नबी (सल्ल०) ने आदेश दिया कि न तो चाँदी का तबादला चाँदी से और सोने का तबादला सोने से किसी कमी या बढ़ोत्तरी के साथ करना जाइज़ है और न एक दिरहम को दो दिरहम के बदले बेचना उचित है।

3. समान प्रजाति की वस्तुओं में विनिमय (तबादले) की एक स्थिति यह भी है कि एक व्यक्ति के पास वस्तु कच्चे माल के रूप में हो और दूसरे के पास निर्मित माल के रूप में और दोनों उस सामान की अदला-बदली करना चाहें। ऐसी स्थिति में देखा जाएगा कि क्या निर्माण प्रक्रिया में उस वस्तु में मूल परिवर्तन कर दिया गया है या इस प्रक्रिया के बावजूद उसमें

कच्चे माल की तुलना में कोई बड़ा अन्तर नहीं हुआ है। पहली स्थिति में तो कमी या ज़्यादती के साथ अदला-बदली हो सकती है, लेकिन दूसरी स्थिति में इस्लामी नियम का उद्देश्य यह है कि या तो अदला-बदली बिलकुल ही न हो, या यदि हो तो बराबरी के साथ हो, ताकि अधिक वुसूली की मानसिकता न पनपे।

4. भिन्न प्रजाति की वस्तुओं का परस्पर विनिमय कमी या अधिकता के साथ हो सकता है, परन्तु शर्त यह है कि यह सौदा हाथों-हाथ हो जाए। इस शर्त के पीछे कारण यह है कि हाथों-हाथ जो लेन-देन होगा, वह निश्चित रूप से बाज़ार रेट पर होगा। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति चाँदी देकर सोना लेगा, वह नक़द सौदे की स्थिति में सोने की तुलना में उतनी ही चाँदी देगा जितनी बाज़ार के हिसाब से देनी चाहिए, परन्तु ऋण की स्थिति में कमी या बढ़ोत्तरी का मामला इस ख़तरे से ख़ाली नहीं हो सकता कि उसके अन्दर ब्याज का अंश सम्मिलित हो जाए, क्योंकि उसके पास यह ज्ञात करने का कोई माध्यम नहीं कि भविष्य में दोनों धातुओं के मूल्यों में क्या अन्तर आएगा। यदि भावी सौदों के अनुपात का निर्धारण पेशगी कर लिया तो यह एक प्रकार का ब्याज या जुआवाली मानसिकता का नतीजा है, और ऋण लेनेवाले ने इसे स्वीकार कर लिया तो उसने भी मानो जुआ खेला। इसी आधार पर यह क़ानून बना दिया गया कि भिन्न प्रकार की वस्तुओं की अदला-बदली भी बेशी के साथ करनी हो तो वह हाथों-हाथ ही होनी चाहिए। रहा क़र्ज़ तो वह निश्चित तौर पर दो तरीक़ों में से किसी एक रीति पर होना चाहिए—या तो जो चीज़ जितनी मात्रा में दी गई है, वही चीज़ उतनी मात्रा में वापस स्वीकार की जाए। या फिर मामला वस्तुओं में तय करने के बजाय मुद्रा में तय किया जाए।

पशुओं के विनिमय में कमी-बेशी

इस सम्बन्ध में यह बात भी उल्लेखनीय है कि समान प्रकार की वस्तुओं की अदला-बदली में कमी-बेशी की मनाही का जो आदेश दिया गया है, उससे पशु अलग हैं। एक ही प्रकार के जानवरों का तबादला एक-दूसरे के

साथ कमी या अधिकता के साथ किया जा सकता है। नबी (सल्ल॰) ने स्वयं किया है और आप (सल्ल॰) के बाद आपके सहाबा (रज़ि॰) ने भी किया। इसका कारण यह है कि जानवर और जानवर में क़ीमत का बड़ा अन्तर होता है, उदाहरण के लिए एक साधारण घोड़ा और एक ऊँची नस्ल का घोड़ा जो रेस में दौड़ाया जाता है, इनकी क़ीमतों में इतना अन्तर होता है कि एक जानवर की अदला-बदली उसी प्रजाति के सौ जानवरों से भी की जा सकती है।

आर्थिक नियमों की नवीन संरचना

हम स्वीकार करते हैं कि हालात बदल चुके हैं। विश्व की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में बड़ी क्रान्ति आई है और इस क्रान्ति ने वित्तीय तथा व्यापारिक मामलों का चित्र कुछ-से-कुछ कर दिया है। ऐसे हालात में इस्लाम के प्रारम्भिक दौर के लिए विचारित नियम मुसलमानों की वर्तमान आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं हैं। क्रय-विक्रय और वित्त तथा अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित जो क़ानून धर्मशास्त्र की प्राचीन पुस्तकों में पाए जाते हैं, उनमें बहुत कुछ बढ़ाने की अब निश्चित रूप में आवश्यकता है।

नवीनीकरण से पहले गहन विचार की आवश्यकता

नयापन चाहनेवाले हमारे महानुभावों ने जो पद्धति अपनाई है, अगर उसका अनुसरण किया जाए और उनकी इच्छा के अनुसार नियमों की संरचना हो तो यह वास्तव में इस्लामी शरीअत की संरचना न होगी, बल्कि ग़लत प्रस्तुति होगी और इसका अर्थ यह होगा कि वास्तव में हम अपने आर्थिक जीवन में इस्लाम से हट रहे हैं, क्योंकि इनका सुझाया तरीक़ा अपने उद्देश्यों, विचारों और बुनियादी सिद्धान्तों से पूर्ण रूप से इस्लामी पद्धति के प्रतिकूल है। इनका उद्देश्य केवल धन कमाना है और इस्लाम का उद्देश्य हलाल (वैध) और जाइज़ कमाई है। इस्लाम यह चाहता है कि इनसान जो कुछ कमाए वैध तरीक़े से और दूसरे लोगों के अधिकारों का हनन किए बग़ैर कमाए। ये लोग सफल उसको समझते हैं जिसने धन प्राप्त कर लिया हो, अधिक-से-अधिक आर्थिक संसाधनों पर अधिकार कर लिया हो और इसके द्वारा आराम, सम्मान, शक्ति और प्रभाव का मालिक बन गया हो। चाहे यह

सफलता उसने कितने ही स्वार्थ, अत्याचार, झूठ, धोखा और अश्लीलता से प्राप्त की हो, कितने इनसानों के अधिकारों पर डाके डाले हों और अपने व्यक्तिगत हित के लिए दुनिया में बुराई, बिगाड़, अनैतिकता, अश्लीलता और मानव-जाति को भौतिक तथा आध्यात्मिक मृत्यु की ओर धकेलने में कोई कमी न छोड़ी हो। परन्तु इस्लाम की दृष्टि में सफल वह है जिसने सच्चाई, अमानत, नेक-नीयती और दूसरे लोगों के अधिकारों और हितों की रक्षा के साथ जीविकोपार्जन हेतु संघर्ष किया हो। यदि इस प्रकार के संघर्ष में करोड़पति बन गया तो यह अल्लाह का इनाम है, परन्तु यदि उसको सम्पूर्ण जीवन न्यूनतम स्तर पर जीना पड़े और पहनने के लिए पैवन्द लगे कपड़े और रहने के लिए टूटी झोंपड़ी से अधिक उपलब्ध न हुआ, तब भी वह असफल नहीं। दृष्टिकोण का यह अन्तर इन लोगों को इस्लाम से बिलकुल विपरीत दिशा की ओर ले जाता है जो शुद्ध रूप से पूँजीवाद का मार्ग है। इस मार्ग पर चलने के लिए उनको जिन आसानियों, ढीलों और स्वतंत्रता की आवश्यकता है, वे इस्लाम में प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतः जो व्यक्ति इस मार्ग पर जाना चाहता हो, उसके लिए तो उचित यही है कि वह दुनिया को और स्वयं अपने-आपको धोखा देना छोड़ दे और अच्छी प्रकार समझ ले कि सरमायादारी (पूँजीवाद) के मार्ग पर चलने के लिए उसको इस्लाम के बजाए केवल यूरोप और अमेरिका ही के आर्थिक सिद्धान्तों तथा नियमों का पालन करना होगा। रहे वे लोग जो क़ुरआन और पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) के तरीक़े पर चलना चाहते हैं तो उनको एक नई जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता केवल इसलिए नहीं है कि पूँजीवादी व्यवस्था से लाभ उठा सकें, या उनके लिए इस्लामी क़ानून में ऐसी सुविधाएँ मिल सकें जिनसे वे करोड़पति व्यापारी, साहूकार और फ़ैक्ट्री के मालिक बन सकें, बल्कि उनको ऐसे नियमों की आवश्यकता केवल इसलिए है कि वे आधुनिक युग की आर्थिक परिस्थितियों और व्यावसायिक मामलों में अपने कार्य तथा व्यवहार को इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार ढाल सकें और अपने लेन-देन में उन पद्धतियों से बच सकें जो अल्लाह को पसन्द नहीं। जहाँ दूसरे समुदायों से मामला करने में उनके सामने कोई वास्तविक कठिनाई आए, वहाँ इस्लाम

में प्रदत्त ढील से वे लाभ उठा सकें। इस उद्देश्य के लिए क़ानून की नई संरचना निश्चित रूप से आवश्यक है और इस्लामी विद्वानों का कर्तव्य है कि वे इस आवश्यकता को पूरी करने का प्रयास करें।

इस्लामी क़ानून में नवीनीकरण (तजदीद) की आवश्यकता

इस्लामी क़ानून कोई रुका (जड़) या ठहरा हुआ क़ानून नहीं है कि विशेष समय और विशिष्ट परिस्थितियों के लिए जिस रूप में गठित किया गया हो, उसी रूप में वह सदैव बना रहे और समय तथा परिस्थितियों और स्थानों के परिवर्तन पर भी उसमें कोई बदलाव न लाया जा सके। जो लोग इस क़ानून को ऐसा समझते हैं, वे ग़लती पर हैं। इस्लाम में इस्लामी क़ानून की बुनियाद तत्वदर्शिता और न्याय पर रखी गई है। क़ानून-निर्माण का वास्तविक उद्देश्य लोगों के मामलों की व्यवस्था इस प्रकार करना है कि उनके बीच टकराव और प्रतिस्पर्धा के बजाए सहयोग, सद्भाव और सहकारिता हो, एक-दूसरे के अधिकार, कर्तव्य, न्याय और सन्तुलन के साथ निर्धारित कर दिए जाएँ और सामूहिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को न केवल अपनी क्षमता के अनुसार उन्नति करने के पूरे अवसर मिलें, बल्कि वह दूसरों के व्यक्तित्व के विकास में मददगार हो, या कम-से-कम उनकी उन्नति में बाधक न बने। इस उद्देश्य के लिए अल्लाह ने इनसानी प्रकृति एवं ज्ञान के आधार पर, जो उसके अतिरिक्त किसी और को प्राप्त नहीं है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ निर्देश दिए हैं और उसके सन्देष्टा ने उसी के दिए हुए ज्ञान से उन निर्देशों को व्यवहारतः जीवन में लागू करके हमारे सामने एक नमूना पेश कर दिया है। ये निर्देश यद्यपि एक विशेष युग और विशिष्ट परिस्थितियों में दिए गए थे और उनको एक विशेष समाज में लागू किया गया था, परन्तु उनके शब्दों से और उन रीतियों से जो पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) ने लागू करते हुए अपनाए थे, क़ानून के कुछ ऐसे व्यापक एवं सार्वभौमिक सिद्धान्त निकलते हैं जो हर ज़माने और प्रत्येक परिस्थिति में इनसानी सोसाइटी की न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिए सदैव लाभदायक और व्यावहारिक हैं। अब प्रत्येक युग के इस्लामी विद्वानों का काम है कि व्यावहारिक जीवन में जैसी-जैसी परिस्थितियाँ और घटनाएँ सामने आती जाएँ, उनके लिए शरीअत के सिद्धान्तों से नियम

बनाते चले जाएँ और उनको लागू करें। धर्म के बुनियादी सिद्धान्त जिस प्रकार अपरिवर्तनशील हैं, उस प्रकार वह नियम व क़ानून नहीं हैं जिनको इनसानों ने उन बुनियादी सिद्धान्तों के आधार पर तैयार किया है, क्योंकि वे सिद्धान्त ईश्वर के बनाए हुए हैं और ये क़ानून इनसानों ने तैयार किए हैं।

कुछ शर्तें

स्पष्ट है कि इस्लाम में इस बात की गुंजाइश रखी गई है कि परिस्थितियों के बदलने और विशेष घटनाओं के अनुसार नियमों में इस्लामी सिद्धान्तों के अन्तर्गत संशोधन किया जा सके और जैसी-जैसी आवश्यकताएँ सामने आएँ, उनको पूरा करने के लिए क़ानून बनाए जा सकें। इसके लिए जो व्यवस्था है, उसमें कुछ महत्वपूर्ण शर्तें इस प्रकार हैं–

1. गौण प्रकृति के क़ानून बनाने के लिए सबसे पहली चीज़ जिसकी ज़रूरत है, वह यह है कि शरीअत (इस्लामी धर्मशास्त्र) के स्वभाव को भली-भाँति समझ लिया जाए। यह बात केवल पवित्र क़ुरआन की शिक्षा और पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) की पवित्र जीवनी के गहन अध्ययन से ही प्राप्त हो सकती है। इन दोनों चीज़ों पर जिस व्यक्ति की व्यापक और गहरी दृष्टि होगी, वह शरीअत के स्वभाव का जानकार हो जाएगा और प्रत्येक अवसर पर उसका विवेक उसको बता देगा कि विभिन्न रीतियों में से कौन-सी रीति उचित है।
2. दूसरी शर्त यह है कि जीवन के जिस विभाग में क़ानून बनाने की आवश्यकता हो, उससे सम्बन्धित सभी आदेशों का अध्ययन करके मालूम किया जाए कि इन आदेशों से क़ानून बनानेवाले का वास्तविक ध्येय क्या है? वह किस नक़्शे पर इस विभाग का प्रबन्धन चाहता है, इस्लामी जीवन की व्यापक स्कीम में इस विशेष विभाग का क्या स्थान है।
3. यह भी ज़रूरी है कि क़ानून बनानेवाले की सैद्धान्तिक रीतियों और क़ानून-निर्माण की शैली को भली-भाँति समझ लिया जाए, ताकि नियम

बनाते समय उन्हीं को अपनाया जाए।

4. परिस्थितियों और घटनाओं के परिवर्तन के कारण नियमों में परिवर्तन या नियम बनाने की आवश्यकता को दो आधारों पर जाँचना ज़रूरी है– एक यह कि हालात किस प्रकार के हैं और उनकी विशेषताएँ क्या हैं और उनके अन्दर कौन-सी शक्तियाँ काम कर रही हैं? दूसरी यह कि इस्लामी क़ानून के अनुसार उनमें किस-किस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं और प्रत्येक प्रकार का परिवर्तन नियमों में कैसा बदलाव चाहता है?

उदाहरण के लिए इसी ब्याज के प्रश्न को लीजिए। आर्थिक नियमों की नवीन संरचना के लिए हमको सबसे पहले वर्तमान समय की आर्थिक दुनिया का अवलोकन करना होगा। हम गहरी दृष्टि से आर्थिक, वित्तीय और लेन-देन की आधुनिक पद्धतियों का अध्ययन करेंगे। आर्थिक जीवन के अन्दर जो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं उनको समझेंगे। उन विचारों एवं सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त करेंगे और सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं के प्रभावों की जानकारी लेंगे। इसके पश्चात् हम देखेंगे कि पुराने समय की तुलना में इन मामलों में जो बदलाव हुए हैं, उनको इस्लामी क़ानून के दृष्टिकोण से किन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है और प्रत्येक वर्ग पर इस्लामी धर्मशास्त्र की प्रकृति, उसके उद्देश्य एवं सिद्धान्त के अनुसार किस प्रकार के नियम जारी होने चाहिएँ।

सैद्धान्ति रूप से इन परिवर्तनों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं–

1. ऐसे परिवर्तन जो वास्तव में सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने से उत्पन्न हुए हैं और जो इनसान के ज्ञान में वृद्धि, बौद्धिक उन्नति, ईश-प्रदत्त साधनों की नई खोजों, भौतिक संसाधनों के विकास, यातायात और प्रचार-प्रसार की सुविधाओं, उत्पादन के माध्यमों में परिवर्तनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वृद्धि के स्वाभाविक परिणाम हैं। ऐसे परिवर्तन इस्लामी क़ानून की दृष्टि से स्वाभाविक और वास्तविक परिवर्तन हैं। इनको न तो मिटाया जा सकता है और न मिटाना अभीष्ट है, बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि इनके प्रभाव से आर्थिक परिस्थितियों,

वित्तीय मामलों और व्यापारिक लेन-देन के जो नए रूप उत्पन्न हो गए हैं, उनके लिए शरीअत के सिद्धान्तों के अन्तर्गत नए नियम बनाए जाएँ जिससे इन बदली हुई परिस्थितियों में मुसलमान अपने कार्यों को ठीक-ठीक इस्लामी शैली में ढाल सकें।

2. वे बदलाव जो सामाजिक उन्नति का परिणाम नहीं हैं, बल्कि दुनिया की आर्थिक व्यवस्था और वित्तीय मामलों पर अत्याचारी पूँजीपतियों के प्रभावी हो जाने के कारण उत्पन्न हुए हैं, वही अत्याचारपूर्ण पूँजीवाद जिसको इस्लाम ने शताब्दियों तक दबाकर रखा था, अब पुनः अर्थजगत् पर छा गई है। पूँजीवाद के इस वर्चस्व से जो बदलाव आए हैं, वे इस्लामी क़ानून की दृष्टि में वास्तविक एवं प्राकृतिक बदलाव नहीं हैं, बल्कि नक़ली हैं जिन्हें ताक़त से मिटाया जा सकता है और जिनका मिटाया जाना मानव-जाति के कल्याण के लिए ज़रूरी है, और इसका एक मात्र लक्ष्य यह हो कि सम्पूर्ण मानव-जाति की इस गन्दगी से रक्षा की जाए और उन सभी मार्गों को बन्द किया जाए जो अत्याचारपूर्ण और अवैध पूँजीवाद को बढ़ावा देते हैं।

नियमों में ढील के सामान्य सिद्धान्त

इस्लामी क़ानून में परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के आधार पर नियमों की कठोरता में ढील देने की पर्याप्त गुंजाइश रखी गई है। क़ुरआन और पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) की शिक्षाओं में इसका संकेत इस प्रकार है—

> "अल्लाह किसी जान पर उसकी सहन-शक्ति से बढ़कर ज़िम्मेदारी का बोझ नहीं डालता।" (क़ुरआन, सूरा-2 बक़रा, आयत-286)
>
> "अल्लाह तुम्हारे साथ नरमी करना चाहता है, सख़्ती करना नहीं चाहता।" (क़ुरआन, सूरा-2 अल-बक़रा, आयत-185)
>
> "उसने धर्म में तुमपर कोई तंगी नहीं रखी।"
> (क़ुरआन, सूरा-22 हज्ज, आयत-78)
>
> पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—
>
> "अल्लाह को सबसे अधिक पसन्द दीन वह है जो सीधा-सादा

और नरम हो, इस्लाम में न किसी को हानि पहुँचाई जाए और हानि उठाए।"

इस प्रकार नियम यह है कि जहाँ कठिनाई या परेशानी हो वहाँ आदेशों में ढील दे दी जाए, परन्तु इसको सोच-समझकर लागू करना होगा। यह देखना होगा कि कठिनाई किस दर्जे की है। ऐसी कठिनाई पर ही छूट दी जाएगी जो गम्भीर हो। छूट उतनी ही दी जाए जितनी जिसको ज़रूरत है। किसी कठिनाई से बचने के लिए उससे बड़ी परेशानी मोल नहीं ली जाएगी। यह भी ध्यान रखना है कि ऐसी परिस्थितियों में अच्छे कामों के करने सम्बन्धी मामलों में अधिक ढील दी गई है, जबकि बुराइयों से रोकने के आदेशों में उतनी नरमी नहीं रखी गई है। यह भी उसूल है कि कठिनाई दूर होते ही ढील-सम्बन्धी सुविधा समाप्त हो जाती है।

ब्याज के सम्बन्ध में इस्लामी नियमों में ढील

उपर्युक्त चर्चा के परिप्रेक्ष्य में विचार कीजिए कि वर्तमान परिस्थितियों में ब्याज के सम्बन्ध में इस्लामी शरीअत के आदेशों में किस सीमा तक ढील दी जा सकती है–

1. ब्याज लेने और ब्याज देने की स्थितियाँ एक जैसी नहीं हैं, ब्याज पर ऋण लेने के लिए तो इनसान कुछ परिस्थितियों में मजबूर हो सकता है, परन्तु ब्याज खाने के लिए कोई मजबूरी नहीं। ब्याज तो वही लेगा जो मालदार होगा और उसे ऐसी क्या मजबूरी होगी कि हराम (अवैध) हलाल (वैध) हो जाए।
2. ब्याज पर क़र्ज़ लेने के लिए भी हर ज़रूरत मजबूरी की श्रेणी में नहीं आती। शादी-विवाह और ख़ुशी-ग़मी की रस्मों में फ़ुज़ूलख़र्ची करना कोई वास्तविक ज़रूरत नहीं है, जिन्हें मजबूरी कहा जा सके। शरीअत में मजबूरी वह सख़्त मुसीबत है जिसमें ब्याज पर ऋण लेने के अतिरिक्त कोई समाधान न हो, प्राण या इज़्ज़त पर बन आए या सहन-शक्ति से परे कठिनाई का वास्तविक ख़तरा हो। ऐसी परिस्थिति में एक मजबूर मुसलमान के लिए ब्याज पर क़र्ज़ लेना जाइज़ होगा, परन्तु वे सभी

ख़ुशहाल मुसलमान गुनाहगार होंगे, जिन्होंने मुसीबत में अपने भाई की मदद नहीं की।

3. अत्यन्त मजबूरी की हालत में भी केवल आवश्यकता-भर ऋण लिया जा सकता है, और अनिवार्य है कि व्यवस्था होते ही सबसे पहले इस ऋण से छुटकारा प्राप्त किया जाए।
4. जो लोग व्यापारिक कारणों या अपने धन की सुरक्षा हेतु या अराजकता के कारण बैंकों में रक़म जमा कराएँ या बीमा कराएँ या उन्हें भविष्य निधि में हिस्सा लेना पड़े उनके लिए ज़रूरी है कि वे अपने मूलधन को ही अपना माल समझें।
5. बैंक या बीमा कम्पनी या प्रावीडेंड फ़ंड से ब्याज की जो रक़म उनके हिसाब में बनती हो, उसको वुसूल करके उन ग़रीब लोगों पर ख़र्च कर दिया जाए जिनकी हालत लगभग वही है जिसमें हराम खाना जाइज़ हो जाता है।
6. वित्तीय लेन-देन और व्यापार-व्यवसाय में जितनी प्राप्तियाँ ब्याज की परिभाषा में आती हों या ब्याज का सन्देह हो, उन सबसे जहाँ तक सम्भव हो, वही तरीक़ा अपनाना चाहिए जो ऊपर बिन्दु-5 में लिखा गया है।

ये छूटें केवल व्यक्तियों के लिए हैं और अन्ततः इन्हें पूरी क़ौम तक फैलाया जा सकता है, जबकि वह अपना वित्तीय प्रबन्धन और अर्थव्यवस्था स्वयं बनाने की स्थिति में न हो। परन्तु एक स्वतंत्र मुस्लिम राष्ट्र जो अपनी समस्याएँ स्वयं हल करने के अधिकार रखता हो, ब्याज के मामले में किसी ढील की माँग उस समय तक नहीं कर सकता जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि ब्याज के बग़ैर बिना, बैंकिंग, व्यापार, उद्योग आदि कोई मामला चल ही नहीं सकता और उसका कोई समाधान सम्भव ही नहीं है। यह बात अगर ग़लत साबित हो और एक आर्थिक व्यवस्था ब्याज के बिना भी अत्यन्त सफलतापूर्वक बनाई और चलाई जा सकती हो तो फिर पाश्चात्य पूँजीवाद के तरीक़ों पर अड़े रहने का अर्थ है कि ईश्वर से विद्रोह का निर्णय कर लिया गया है।

ब्याज-उन्मूलन और आर्थिक विकास[1]

अब हमें इस प्रश्न पर चर्चा करनी है कि क्या वास्तव में ब्याज को समाप्त करके ऐसा वित्तीय और आर्थिक सिस्टम स्थापित किया जा सकता है जो वर्तमान युग में एक विकासशील समाज और राष्ट्र की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त हो।

कुछ भ्रान्तियाँ

इस प्रश्न पर चर्चा आरम्भ करने से पूर्व ज़रूरी है कि ऐसी कुछ भ्रान्तियों को स्पष्ट कर दिया जाए जो न केवल इस मामले में, बल्कि व्यावहारिक सुधार के हर केस में लोगों के मस्तिष्क को उलझाया करती हैं—

सबसे पहली भ्रान्ति तो वही है जिसके आधार पर उपर्युक्त प्रश्न उत्पन्न हुआ है। विवेक की दृष्टि से ब्याज एक ग़लत चीज़ है और इस्लामी शिक्षाओं का सन्दर्भ लें तो अल्लाह और उसके सन्देशवाहक मुहम्मद (सल्ल॰) ने प्रत्येक प्रकार के ब्याज को वर्जित घोषित किया है। इसके बाद यह पूछना कि "क्या इसके बिना काम चल भी सकता है?" और "क्या यह व्यावहारिक है भी?" दूसरे शब्दों में यह कहना है कि ईश्वर की इस सृष्टि में कोई ग़लती 'अपरिहार्य' भी है और कोई उचित काम अव्यावहारिक भी पाया जाता है। यह वास्तव में ईश-सत्ता और उसकी व्यवस्था के प्रति

1. आगे जो वार्ता की गई है उसके लिए इस बात को सामने रखना ज़रूरी है कि ये बातें एक मुस्लिम देश की परिस्थितियों को सामने रखकर की गई हैं। (अनुवादक)

'अविश्वास' का वोट है। इसका अर्थ यह है कि हम एक ऐसी भ्रष्ट व्यवस्था में साँस ले रहे हैं जिसमें हमारी कुछ वास्तविक आवश्यकताएँ ग़लतियों तथा दुराचरण से जोड़ दी गई हैं और कुछ अच्छाइयों के द्वार जानते-बूझते हमपर बन्द कर दिए गए हैं या इससे आगे यह बात हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि प्रकृति स्वयं टेढ़ी है कि जो कुछ उसके अपने क़ानून के हिसाब से ग़लत है, वही उसकी व्यवस्था में लाभदायक, ज़रूरी और व्यावहारिक है और जो उसके क़ानून के हिसाब से उचित है, वही उसके सिस्टम में हानिकारक और अव्यावहारिक है।

क्या वास्तव में हमारी बुद्धि और हमारा ज्ञान और हमारे इतिहास के अनुभव प्रकृति के स्वभाव को इसी दुर्भावना के योग्य समझते हैं? क्या यह सच है कि प्रकृति बिगाड़ की पक्षधर और बनाव की दुश्मन है। अगर यह बात है तब तो हमें चीज़ों के सही और ग़लत होने की सारी जानकारियों को लपेटकर रख देना चाहिए और सीधी तरह जीवन से त्यागपत्र दे देना चाहिए, क्योंकि उसके बाद तो हमारे लिए उम्मीद की एक किरण भी इस दुनिया में शेष नहीं रहती। परन्तु यदि हमारी और कायनात की प्रकृति इस बदगुमानी के योग्य नहीं है तो फिर हमें इस सोच को छोड़ देना चाहिए कि "अमुक चीज़ है तो बुरी मगर काम उसी से चलता है" और "अमुक चीज़ है तो सही मगर उससे काम चलनेवाला नहीं है।"

वास्तविकता यह है कि संसार में जो रीति भी प्रचलित हो जाती है, लोगों के मामले उसी से जुड़ जाते हैं और उसको बदलकर किसी दूसरी रीति को स्थापित करना कठिन दिखाई देता है। हर प्रचलित रीति की यही स्थिति है, चाहे वह रीति सही हो या ग़लत। कठिनाई जो कुछ है वह परिवर्तन में है और सुहूलत का कारण प्रचलन में होने के अतिरिक्त कुछ नहीं। मगर नासमझ लोग उससे धोखा खाकर यह समझ बैठते हैं कि जो ग़लती प्रचलन में आ चुकी है, इनसानी मामले बस उसी पर चल सकते हैं और उसके अतिरिक्त कोई दूसरा तरीक़ा व्यावहारिक ही नहीं है।

दूसरी भ्रान्ति इस मामले में यह है कि लोग परिवर्तन की कठिनाई के वास्तविक कारणों को नहीं समझते और अनजाने में ही परिवर्तन के प्रस्ताव

के सिर पर अव्यावहारिक होने का आरोप लगाने लगते हैं। अगर आप प्रचलित व्यवस्था के प्रत्येक प्रस्ताव को अव्यावहारिक समझेंगे तो आप इनसानी प्रयासों की सम्भावनाओं का बहुत ही त्रुटिपूर्ण आकलन करेंगे। जिस दुनिया में निजी सम्पत्ति के स्वामित्व का पूर्ण उन्मूलन करके पूर्ण सामूहिक स्वामित्व को बढ़ावा देने जैसा अत्यन्त क्रान्तिकारी प्रस्ताव व्यवहार में लाकर दिखा दिया हो, वहाँ यह कहना कितनी नासमझी है कि ब्याज का उन्मूलन और ज़कात की व्यवस्था जैसा न्यायोचित प्रस्ताव व्यावहारिक नहीं है, तथापि यह बात सही है कि प्रचलित व्यवस्था को परिवर्तित करके किसी दूसरे नक़्शे पर जीवन का निर्माण करना हरेक के बस का रोग नहीं है। ये काम केवल वही लोग कर सकते हैं जिनमें दो शर्तें पाई जाती हों—

एक यह कि वे पुरानी व्यवस्था से हट चुके हों और सच्चे मन से उस प्रस्ताव पर विश्वास रखते हों जिसके अनुसार जीवन-व्यवस्था में परिवर्तन करना विचाराधीन हो।

दूसरे यह कि वे पुरातनवादी सोच के न होकर नई सोचवाले हों, वह मात्र उस साधारण बुद्धि के मालिक न हों जो पुरानी व्यवस्था को उसके नेताओं की भाँति चला ले जाने के लिए पर्याप्त होती है, बल्कि वे उस श्रेणी की समझ रखते हों जो लीक से हटकर नए मार्ग बनाने के लिए ज़रूरी होती है।

ये दो शर्तें जिन लोगों में पाई जाती हों, वे कम्यूनिज़्म, नाज़ीइज़्म और फ़ासिज़्म जैसे कठोर क्रान्तिकारी व्यवस्थाओं तक को अमल में ला सकते हैं, और जिनमें इन दोनों शर्तों का अभाव हो वे इस्लाम द्वारा प्रस्तुत अत्यन्त सन्तुलित और मध्यमार्गी परिवर्तनों को भी लागू नहीं कर सकते।

एक छोटी-सी भ्रान्ति इस मामले में और भी है। सकारात्मक समालोचना और सुधारात्मक प्रस्ताव के उत्तर में जब कार्य का प्रारूप माँगा जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों के अनुसार कार्य की जगह काग़ज़ है, जबकि कार्य काग़ज़ पर नहीं, ज़मीन पर हुआ करता है। काग़ज़ पर करने का वास्तविक कार्य तो यह है कि दलीलों और सुबूतों से वर्तमान प्रणाली के दोषों

और हानियों को स्पष्ट कर दिया जाए और उनके स्थान पर जो इस्लामी सिद्धान्त प्रस्तावित है, उनका औचित्य सिद्ध कर दिया जाए। इसके बाद जो समस्याएँ व्यावहारिकता से सम्बन्धित हैं, उनके बारे में काग़ज़ पर इससे अधिक कुछ नहीं किया जा सकता कि लोगों को एक सादा-सा ज्ञान इस बात का दिया जाए कि पुरानी व्यवस्था के दोषपूर्ण तरीक़ों को किस प्रकार मिटाया जा सकता है और उसके स्थान पर नए प्रस्तावों को किस प्रकार व्यवहार में लाया जा सकता है। रहा यह प्रश्न कि इस तोड़-फोड़ और निर्माण की विस्तृत स्थिति क्या होगी और उसके बीच के चरण क्या होंगे और प्रत्येक चरण में जो समस्याएँ आएँगी, उन्हें कैसे हल किया जाएगा? इन बातों का न तो कोई पूर्वानुमान कर सकता है और न कोई उत्तर दे सकता है। अगर आप इस बात पर सन्तुष्ट हो चुके हों कि वर्तमान व्यवस्था वास्तव में दोषपूर्ण है और सुधार का प्रस्ताव बिलकुल उचित है तो अमल के लिए क़दम उठाइए और कार्यभार ऐसे लोगों को सौंपिए जो ईमान और नवीन सोच रखते हों। फिर जो व्यावहारिक समस्या जहाँ उत्पन्न होगी, वहीं उसका समाधान हो जाएगा। धरती पर करने का काम आख़िर काग़ज़ पर करके कैसे दिखाया जा सकता है?

इस स्पष्टीकरण के पश्चात यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि इस विषय पर हम आगे जो कुछ प्रस्तुत करेंगे, वह ब्याज-रहित वित्त-व्यवस्था की कोई विस्तृत रूपरेखा न होगी, बल्कि उसकी एक सामान्य अवधारणा होगी कि ब्याज को सामूहिक वित्त-व्यवस्था से निष्कासित करने की व्यावहारिक प्रक्रिया क्या हो सकती है? और वे बड़ी-बड़ी समस्याएँ जो ब्याज के उन्मूलन का विचार करते ही अनायास मनुष्य के सामने आ जाती हैं, किस प्रकार हल हो सकती हैं।

सुधार के मार्ग में पहला क़दम

अर्थव्यवस्था और वित्त-व्यवस्था में अनगिनत दोष इस कारण पैदा हुए हैं कि क़ानून ने ब्याज को वैध रखा है। स्पष्ट है कि जब एक व्यक्ति के लिए ब्याज का दरवाज़ा खुला हुआ है तो वह अपने पड़ोसी को ब्याज-रहित ऋण

क्यों दे? और एक व्यवसायी के साथ लाभ-हानि में भागीदारी को क्यों अपनाए? और अपनी सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शुद्ध मन से सहायता का हाथ क्यों बढ़ाए? और क्यों न अपनी जमा की हुई पूँजी को साहूकार के हवाले कर दे, जिससे उसको घर बैठे एक लगा-बन्धा लाभ मिलने की उम्मीद हो? आप मानवीय स्वभाव की बुरी प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के पश्चात् यह आशा नहीं कर सकते कि मात्र उपदेश और नैतिकता की अपीलों के द्वारा आप उनको पनपने से और उनकी हानियों को रोक सकेंगे। फिर यहाँ तो मामला इस सीमा तक सीमित नहीं है कि आपने एक बुरी सोच को खुली छुट्टी दे रखी है, बल्कि इससे आगे बढ़कर आपका क़ानून तो उलटा इसका मददगार बना हुआ है और हुकूमत स्वयं उस बुराई पर आधारित वित्त-व्यवस्था को पोषित कर रही है। इस परिस्थिति में यह कैसे सम्भव है कि किसी प्रकार का आंशिक संशोधन करके या तनिक सुधारात्मक उपाय करके उसकी बुराइयों का उन्मूलन किया जा सके? उनका उन्मूलन हो सकता है तो केवल इस प्रकार कि सबसे पहले उस द्वार को बन्द किया जाए जिससे ख़राबी आ रही है।

जो लोग यह समझते हैं कि पहले कोई ब्याज-रहित वित्तीय व्यवस्था बन जाए, फिर ब्याज अपने आप बन्द हो जाएगा या उसे क़ानून द्वारा बन्द कर दिया जाएगा, वे वास्तव में घोड़े के आगे गाड़ी बाँधना चाहते हैं। जब तक ब्याज क़ानूनन प्रचलित है, जब तक अदालतें ब्याज के समझौतों को मान्यता देकर उनको अपनी शक्ति द्वारा लागू कर रही है, जब तक साहूकारों के लिए यह दरवाज़ा खुला है कि ब्याज का लालच देकर घर-घर से रक़म इकट्ठी करें और फिर आगे उसे ब्याज पर चलाएँ, उस समय तक यह सम्भव ही नहीं है कि कोई ब्याज-रहित आर्थिक व्यवस्था अस्तित्व में आए और पनप सके। अतः यदि ब्याज को समाप्त करना इस बात पर निर्भर है कि पहले कोई वित्तीय प्रणाली बने और परिपक्व हो जाए जो वर्तमान सिस्टम का स्थान ले सकता हो, तो विश्वास कीजिए कि प्रलय होने तक ब्याज के बन्द होने की नौबत नहीं आ सकती। यह काम तो जब कभी करना हो इसी प्रकार करना पड़ेगा कि पहले चरण में ही ब्याज को क़ानून द्वारा बन्द कर दिया जाए, फिर

स्वयं ब्याज-रहित सिस्टम पैदा हो जाएगा और 'आवश्यकता जो आविष्कार की जननी है' आपसे-आप उसके हर अनुभाग में बढ़ने और फैलने का मार्ग बनाती चली जाएगी।

ब्याज इनसानी मानसिकता के जिन अवगुणों का परिणाम है, उनकी जड़ें इतनी गहरी और उनके कारक इतने शक्तिशाली हैं कि अधूरी कार्यवाही और हल्के समाधानों से इस आफ़त का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। इस उद्देश्य के लिए तो आवश्यक है कि वे सारी युक्तियाँ अपनाई जाएँ जो इस्लाम सुझाता है और उसी सरगर्मी के साथ लागू की जाएँ, जैसा इस्लाम चाहता है। इस्लाम ब्याज के कारोबार की केवल नैतिक आलोचना पर बस नहीं करता, बल्कि एक ओर वह उसको धार्मिक आदेश द्वारा वर्जित घोषित करके उसके विरुद्ध घृणा उत्पन्न करता है, दूसरी ओर जहाँ-जहाँ सत्ता और शासन पर आधिपथ्य प्राप्त होता है, वहाँ क़ानून द्वारा निषिद्ध घोषित करता है। सभी ब्याज के सौदों को अमान्य ठहराता है, ब्याज लेने और देने और दस्तावेज़ लिखने और उसपर गवाह बनने को फ़ौजदारी अपराध की श्रेणी में रखकर पुलिस के हस्तक्षेप के योग्य घोषित करता है और अगर कहीं यह ब्याज का कारोबार सामान्य सज़ाओं से बन्द न हो तो उसमें संलिप्त व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड और सम्पत्ति को ज़ब्त करने की सज़ाएँ देता है। तीसरी ओर वह ज़कात (अनिवार्य दान) को अनिवार्य घोषित करके हुकूमत के द्वारा उसकी प्राप्ति एवं वितरण की व्यवस्था करके एक दूसरी वित्तीय प्रणाली को स्थापित कर देता है। इन सब उपचारों के साथ-साथ वह शिक्षा-दीक्षा और समझाने-बुझाने के द्वारा जनमानस का सुधार भी करता है, ताकि उनके अन्तर्मन के वे अवगुण दब जाएँ जो ब्याज खाने का कारण बनते हैं और वे गुण तथा भाव पलें-बढ़ें जिनसे समाज में हमदर्दी तथा सहयोग का वातावरण बनता है।

ब्याज के उन्मूलन के परिणाम

जो कोई भी वास्तव में गम्भीरता और सच्चे मन से ब्याज की समाप्ति चाहता हो, उसे यह सब इसी तरह करना होगा जो ऊपर बयान हुआ है।

ब्याज पर यह क़ानूनी प्रतिबन्ध, जबकि उसके साथ ज़कात की वुसूली और वितरण की सार्वजनिक व्यवस्था भी हो, आर्थिक दृष्टिकोण से तीन बड़े परिणाम लाएगी–

1. इसका पहला और महत्वपूर्ण नतीजा यह होगा कि धन के इकट्ठा होने की वर्तमान हानिप्रद स्थिति एक सही और स्वस्थ स्थिति से बदल जाएगी।

वर्तमान में तो धन इस प्रकार इकट्ठा होता है कि हमारी सामूहिक व्यवस्था कंजूसी और माल जमा करने की प्रवृत्ति को जो इनसान में स्वाभाविक रूप से मौजूद है, अपनी कृत्रिम रीतियों से अत्यधिक बढ़ा देती है। वह इसे डर और लालच दोनों माध्यमों से इस बात पर तैयार करती है कि वह अपनी आय का कम-से-कम भाग व्यय करे और अधिक-से-अधिक भाग जमा (बचत) करे। वह उसे डराता है कि बचत कर, क्योंकि पूरे समाज में कोई नहीं है जो तेरे बुरे समय में काम आए। वह उसे लालच देता है कि बचत कर, क्योंकि इसका प्रतिफल तुझे ब्याज के रूप में प्राप्त होगा। इस दोहरी प्रेरणा से समाज के वे लोग जो ज़रूरत से कुछ अधिक आय रखते हैं, व्यय को रोकने और बचत करने को तत्पर हो जाते हैं। परिणामस्वरूप मंडियों में व्यापारिक माल की आपूर्ति बड़ी हद तक कम हो जाती है और आय में कमी के कारण व्यापार-व्यवस्था की उन्नति की सम्भावनाएँ भी उसी के अनुसार कम हो जाती हैं और सामूहिक पूँजी के अवसर और अधिक कम होते चले जाते हैं। इस प्रकार कुछ लोगों की बचतों का बढ़ना सामूहिक अर्थव्यवस्था के घटने का परिणाम होता है। एक आदमी ऐसी रीति से अपनी बचत की रक़म में वृद्धि करता है जिससे हज़ारों आदमी कुछ कमाने के योग्य नहीं रहते, बचत करना तो दूर की बात है।

इसके विपरीत जब ब्याज को बन्द कर दिया जाएगा और ज़कात का प्रबन्ध करके सरकार की ओर से समाज के हर व्यक्ति को यह विश्वास दिला दिया जाएगा कि बुरे समय पर उसकी सहायता का समुचित प्रबन्ध है तो कंजूसी और धन को जमा करने के अस्वाभाविक कारक तथा प्रेरक समाप्त हो जाएँगे। लोग दिल खोलकर ख़ुद भी ख़र्च करेंगे और ग़रीब लोगों को भी

ज़कात के द्वारा इतनी क्रय-शक्ति पहुँचा देंगे कि वे ख़र्च करें। इससे व्यापार और व्यवसाय बढ़ेगा, जिससे रोज़गार बढ़ेगा, रोज़गार के बढ़ने से आय बढ़ेगी। ऐसे वातावरण में एक तो व्यापार और व्यवसाय का अपना लाभ ही इतना बढ़ जाएगा कि उसे बाहरी पूँजी की उतनी आवश्यकता शेष नहीं रहेगी जितनी अब होती है। फिर जिस सीमा तक भी उसे पूँजी की आवश्यकता होगी, वह वर्तमान स्थिति की तुलना में आसानी से उपलब्ध हो सकेगी, क्योंकि उस समय भी बचत करने की प्रवृत्ति पूरी तरह समाप्त नहीं होगी, जैसा कि कुछ लोगों का अनुमान है, बल्कि कुछ लोग तो अपने व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार बचत करते रहेंगे और अधिकांश लोग आय की अधिकता और समाज में आम ख़ुशहाली के कारण बचत करने पर मजबूर होंगे। उस समय यह बचत किसी कंजूसी या डर या लालच के कारण न होगी, बल्कि उसकी वजह केवल यह होगी कि ज़ो लोग अपनी ज़रूरत से अधिक कमाएँगे, इस्लाम की जाइज़ की हुई मदों पर दिल खोलकर ख़र्च करने के बाद भी उनके पास बहुत कुछ बचा रहेगा। इस बची हुई दौलत को लेनेवाला कोई मुहताज उनको न मिलेगा। इसलिए वे उसे डाल रखेंगे और अपनी शर्तों पर अपनी सरकार को अपने देश के व्यापार, व्यवसाय को और पड़ोसी देशों को धन देने को तैयार हो जाएँगे।

2. दूसरा परिणाम यह होगा कि इकट्ठी हुई पूँजी रुकने के स्थान पर चलने की ओर अग्रसर रहेगी और अर्थव्यवस्था की 'खेतियों' को उनकी आवश्यकतानुसार और समयानुसार 'पानी' मिलता चला जाएगा। वर्तमान सिस्टम में पूँजी को व्यवसाय की ओर जाने के लिए जो चीज़ तैयार करती है, वह ब्याज का लालच है, मगर यही चीज़ उसके रुकने का कारण भी बनती है, क्योंकि पूँजी अधिकांशतः इस प्रतीक्षा में रुकी रहती है कि ब्याज-दर अधिक मिले तो वह काम में लगे। यही चीज़ पूँजी के स्वभाव को कारोबार के स्वभाव से विमुख भी कर देती है। जब कारोबार चाहता है कि पूँजी आए तो पूँजी अकड़ जाती है और अपनी शर्तों में कठोरता लाती चली जाती है और जब मामला विपरीत होता है तो पूँजी कारोबार के पीछे दौड़ती है और हल्की शर्तों पर प्रत्येक अच्छे-बुरे कार्य

में लगने को तैयार हो जाती है। परन्तु जब ब्याज का दरवाज़ा क़ानून द्वारा बन्द हो जाएगा और सभी जमा-राशियों पर उलटा ढाई प्रतिशत वार्षिक ज़कात लगनी शुरू हो जाएगी तो पूँजी का यह बिगड़ा हुआ स्वभाव समाप्त हो जाएगा। वह स्वयं चाहेगी कि उचित शर्तों पर जल्द-से-जल्द किसी कारोबार में लग जाए और ठहरने के बजाय हमेशा कारोबार ही में लगी रहे।

3. तीसरा नतीजा यह होगा कि 'व्यावसायिक वित्त' तथा 'ऋण कोष' ये दोनों मदें अलग-अलग हो जाएँगी। वर्तमान में पूँजी की आपूर्ति अधिकांशतः 'ऋण' के रूप में होती है, चाहे ऋण लेनेवाला पूँजी को उपभोग के लिए ले या लाभकारी कार्य के लिए ले, चाहे अल्पकालीन आवश्यकता के लिए ले या दीर्घकालीन योजना के लिए, प्रत्येक स्थिति में पूँजी केवल एक ही शर्त पर मिलती है, और वह यह है कि एक निर्धारित ब्याज-दर पर उसे ऋण के रूप में प्राप्त किया जाए। परन्तु जब ब्याज प्रतिबन्धित हो जाएगा तो ऋण की मद केवल अलाभकारी कार्यों के लिए ही रह जाएगी और उसका प्रबन्ध 'ब्याज-रहित ऋण' के सिद्धान्त पर करना होगा। रहे दूसरे उद्देश्य, चाहे वे व्यापार और व्यवसाय से सम्बन्धित हों या सरकारों और सार्वजनिक संस्थाओं की लाभकारी योजनाओं से सम्बन्धित हों, उन सबमें पूँजी की आपूर्ति ऋण के स्थान पर लाभ-हानि में भागेदारी (Profit and Loss Sharing) के सिद्धान्त पर होगी।

अब हम संक्षेप में बताएँगे कि वित्त की ब्याज-रहित व्यवस्था में ये दोनों चीज़ें किस प्रकार कार्य कर सकती हैं।

ब्याज-रहित वित्त-प्रणाली में ऋण की उपलब्धता का तरीक़ा

पहले ऋण को लीजिए, क्योंकि लोग सबसे बढ़कर इस भ्रम में पड़े हुए हैं कि ब्याज के बन्द होने से क़र्ज़ मिलना बन्द हो जाएगा। अतः हम पहले यही बताएँगे कि ब्याज से ऋण की उपलब्धता बन्द नहीं होगी, बल्कि वर्तमान की तुलना में अधिक सरल और बेहतर होगी।

व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए

वर्तमान सिस्टम में व्यक्तिगत ज़रूरतों के लिए ऋण उपलब्धता का मात्र एक तरीक़ा है कि ग़रीब आदमी महाजन से और जायदादवाला बैंक से ब्याज पर ऋण प्राप्त करे। दोनों परिस्थितियों में ऋण चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक उद्देश्य के लिए प्रत्येक मात्रा में धन मिल सकता है, यदि वह महाजन या बैंक को मूलधन और ब्याज के मिलते रहने का विश्वास दिला सकता हो, चाहे वह ऋण पाप के कार्यों या अपव्यय के लिए लेना चाहता हो अथवा वास्तविक ज़रूरतों के लिए। इसके विपरीत ऋण चाहनेवाला कहीं से एक पैसा भी नहीं पा सकता यदि वह मूलधन और ब्याज मिलने का विश्वास न दिला सकता हो, चाहे उसके घर में एक मुर्दा शव ही अन्तिम संस्कार के लिए पड़ा हो। फिर वर्तमान सिस्टम में किसी ग़रीब की मुसीबत और किसी अमीरज़ादे की आवारगी दोनों ही साहूकार के लिए कमाई के अवसर हैं, और इस स्वार्थ के साथ पत्थरदिली का यह हाल है कि जो व्यक्ति ब्याज के क़र्ज़ के जाल में फँस चुका है, उसके साथ न ब्याज वुसूलने में कोई रियायत है और न मूलधन में। कोई यह देखने के लिए दिल नहीं रखता कि जिस व्यक्ति से हम मूल और ब्याज की माँग कर रहे हैं, वह बेचारा किस विकट परिस्थिति में है। ये हैं वे 'आसानियाँ' जो प्रचलित सिस्टम में व्यक्तिगत ऋणों के सम्बन्ध में है।

अब देखिए कि इस्लाम का ब्याज-रहित सदक़े (पुण्य) पर आधारित सिस्टम व्यक्तिगत ऋण की व्यवस्था किस प्रकार करता है—

सर्वप्रथम इस सिस्टम में फ़ुज़ूलख़र्चियों और गुनाह के कामों के लिए ऋण का द्वार बन्द हो जाएगा, क्योंकि वहाँ ब्याज के लालच में बेजा ऋण देनेवाला कोई न होगा। इस परिस्थिति में ऋण का सारा लेन-देन आपसे-आप केवल उचित और वास्तविक आवश्यकताओं तक सीमित हो जाएगा और उतना ही धन लिया और दिया जाएगा जो विभिन्न व्यक्तिगत परिस्थितियों में स्पष्ट रूप से मुनासिब लगेगा।

फिर क्योंकि उस सिस्टम में ऋणी से किसी प्रकार का लाभ लेना

ऋणदाता के लिए जाइज़ न होगा, इसलिए ऋणों की वापसी अधिक सरल हो जाएगी। अल्प आयवाला व्यक्ति भी थोड़ी-थोड़ी क़िस्तें देकर ऋण के भार से शीघ्र और आसानी से मुक्त हो सकेगा। जो व्यक्ति ज़मीन, मकान अथवा कोई अन्य जायदाद गिरवी रखेगा, उसकी आय ब्याज में खपने के बजाय 'मूल' में से घटेगी और इस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र ऋण की वापसी हो जाएगी। इतनी आसानियों के बाद भी अगर कोई ऋण अदा होने से रह जाएगा तो राज्य का कोष सहायतार्थ मौजूद होगा और यदि ऋणी कुछ छोड़े बिना मर जाए तब भी राजकोष क़र्ज़ अदा करने का ज़िम्मेदार होगा। इन कारणों से सम्पन्न लोगों के लिए अपने किसी ज़रूरतमन्द पड़ोसी की ज़रूरत पर उसे ऋण देना उतना कठिन और अरुचिकर कार्य न रहेगा जितना अब मौजूदा सिस्टम में है।

इसपर भी अगर किसी व्यक्ति को उसके मुहल्ले या बस्ती में ऋण न मिले तो राजकोष का द्वार उसके लिए खुला होगा, वह जाएगा और वहाँ से आसानी के साथ ऋण प्राप्त कर लेगा। परन्तु यह स्पष्ट रहना चाहिए कि राजकोष से मदद इन कार्यों के लिए अन्तिम विकल्प है। इस्लामी दृष्टिकोण से व्यक्तिगत आवश्यकताओं में एक-दूसरे को ऋण देना समाज के लोगों का कर्तव्य है और एक समाज में 'स्वास्थ्य' का पैमाना यही है कि लोग अपने नैतिक उत्तरदायित्व को स्वयं महसूस करें और निभाते रहें। यदि किसी बस्ती का निवासी अपने पड़ोसियों से ऋण नहीं प्राप्त करता और मजबूर होकर 'राजकोष' का रुख़ करता है तो यह स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत है कि उस बस्ती का वातावरण बिगड़ गया है। इसलिए जब इस प्रकार का कोई मामला 'राजकोष' में पहुँचेगा, वहाँ केवल उस व्यक्ति की ज़रूरत ही पूरी करने पर संतोष नहीं कर लिया जाएगा, बल्कि तुरन्त 'नैतिक कल्याण-विभाग' को इस 'घटना' की सूचना दी जाएगी और वह उस 'बीमार' बस्ती की ओर ध्यान देगा, जिसके निवासीगण अपने एक पड़ोसी के उसकी आवश्यकता के समय काम न आ सके। इस तरह की घटना का समाचार एक अच्छी नैतिक व्यवस्था में वही बेचैनी पैदा करेगा जो हैज़ा या प्लेग की किसी घटना का समाचार भौतिकवादी व्यवस्था में पैदा करता है।

व्यक्तिगत ऋणों की उपलब्धता का एक और तरीक़ा इस्लामी व्यवस्था में अपनाया जा सकता है। वह यह है कि सभी व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर उनके कर्मचारियों और मज़दूरों के जो कम-से-कम अधिकार हैं, क़ानूनी रूप से निर्धारित किए गए हैं, उनमें एक अधिकार यह भी हो कि वह उन्हें विशेष परिस्थिति में ऋण दे दिया करें। सरकार स्वयं भी अपने ऊपर अपने कर्मचारियों का यह हक़ स्वीकार करे। यह मामला वास्तव में केवल नैतिकता का नहीं, बल्कि इसका आर्थिक और राजनीतिक महत्व भी उतना ही है जितना कि नैतिक महत्व है। आप अपने कर्मचारियों और मज़दूरों को ब्याज-रहित ऋण देंगे तो मात्र पुण्य का कार्य ही नहीं करेंगे, बल्कि आप उन कारकों में से एक कारक को दूर करेंगे जो आपके कामगारों को चिन्ता, अवसाद और भौतिक बर्बादी में डालते हैं। इन मुसीबतों से उन्हें बचाइए। उनका मानसिक सन्तोष उनकी कार्य-क्षमता को बढ़ाएगा और उन्हें बिगाड़ से बचाएगा। इसका लाभ चाहे खाता-बही में कुछ भी न हो, परन्तु जिसे बुद्धि की दृष्टि उपलब्ध हो, वह सरलता से देख सकता है कि कुल मिलाकर पूरा समाज ही नहीं, बल्कि अलग-अलग एक-एक पूँजीपति और कारख़ानेदार के लिए भी और एक-एक आर्थिक इकाई के लिए भी इसका लाभ उस सौदे से बहुत अधिक मूल्यवान होगा जो आज भौतिकवादी व्यवस्था में केवल मूर्खता और तंगनज़री के आधार पर वुसूल किया जा रहा है।

व्यावसायिक उद्देश्य के लिए

इसके पश्चात उन ऋणों का मामला लीजिए जो व्यापारियों को दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं के लिए चाहिएँ। वर्तमान में इन उद्देश्यों के लिए या तो बैंकों से सीधे अल्पकालीन ऋण (Short Term Loans) प्राप्त किए जा सकते हैं या फिर हुंडियाँ (Bills of Exchange) प्रयुक्त की जाती हैं। दोनों ही परिस्थितियों में बैंक ब्याज लगाते हैं। यह व्यापार की ऐसी आवश्यकता है जिसके बिना आज कोई काम नहीं चल सकता। इसलिए जब कारोबारी लोग ब्याज के बन्द होने का नाम सुनते हैं तो उन्हें सबसे पहले यह चिन्ता होती है कि फिर दिन-प्रतिदिन की इन आवश्यकताओं के लिए ऋण कैसे मिलेगा? अगर बैंक को ब्याज का लालच न हो तो वह हमें

क्यों ऋण देगा और क्यों हमारी हुंडियाँ भुनाएगा?

यहाँ सवाल यह पैदा होता है कि जिस बैंक के पास ब्याज-रहित जमा-राशियाँ (Deposits) हों और जिसके पास व्यापारियों की भी भारी धन-राशि बिना ब्याज रखी रहती हो, वह क्यों न उनको अल्पकालीन ऋण ब्याज-रहित दे और उनकी हुंडियाँ भुनाए। अगर बैंक सीधी तरह इसपर सहमत न हो तो क़ानून द्वारा उसको मजबूर किया जाएगा। बैंक अपने ग्राहकों को यह सेवा प्रदान करे। यह चीज़ उसके उत्तरदायित्व में सम्मिलित होनी चाहिए।

रहा यह प्रश्न कि अगर इस लेन-देन में बैंक को ब्याज न मिले तो वह ख़र्चे कैसे पूरे करेगा? इसका उत्तर यह है कि जब चालू खातों (Current Accounts) की समस्त धन-राशि बैंक के पास ब्याज-रहित जमा रहेंगी तो उसके लिए उन्हीं रक़मों में से कम अवधि के ऋण ब्याज-रहित देना कोई हानिकारक मामला न रहेगा, क्योंकि इस परिस्थिति में बैंक को जो थोड़ी-बहुत दफ़तरी ख़र्च वहन करना होगा, उससे अधिक लाभ वह उन रक़मों से प्राप्त कर लेगा जो उसके पास जमा होंगी। फिर अगर यह तरीक़ा व्यावहारिक न हो तो इसमें भी कोई आपत्ति नहीं कि बैंक अपनी इस सेवा के लिए एक मासिक या अर्द्धवार्षिक शुल्क अपने सभी व्यावसायिक ग्राहकों पर लागू कर दे। ब्याज की तुलना में यह शुल्क उनको अधिक सस्ता पड़ेगा, इसलिए वे इसे सहर्ष गवारा कर लेंगे।

सरकार की अलाभकारी योजनाओं के लिए

तीसरी महत्वपूर्ण मद उन ऋणों की है जो सरकारों को कभी दैवी आपदाओं के लिए, कभी अलाभकारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के लिए और कभी युद्ध के लिए लेने होते हैं। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में इन सब उद्देश्यों के लिए ऋण और वह भी ब्याजवाले ऋण के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु इस्लामी व्यवस्था में निश्चित रूप से ऐसा होगा कि इधर सरकार ने अपनी आवश्यकता का समाचार जारी किया उधर देश के लोग और संस्थाएँ स्वयं लाकर चन्दे के ढेर लगा दें। इसलिए कि ब्याज पर प्रतिबन्ध और ज़कात की

व्यवस्था लोगों को आर्थिक रूप से सन्तुष्ट कर देगी कि उन्हें अपनी बचत अपनी सरकार को यूँ ही दे देने में कोई झिझक न होगी। इसपर भी अगर ज़रूरत के अनुसार धन न मिल सके तो सरकार ऋण माँगेगी और लोग दिल खोलकर ब्याज-रहित ऋण देंगे। परन्तु यदि फिर भी आवश्यकता पूर्ण न हो सके तो सरकार अपना काम चलाने के लिए निम्नलिखित तरीक़े अपना सकती है–

(1) ज़कात आदि की रक़में।

(2) सभी बैंकों से उनकी जमा-राशियों का एक निश्चित भाग ऋण के रूप में माँग ले।

(3) अन्तिम विकल्प यह है कि नोट छापकर काम चला ले जो वास्तव में नागरिकों से ऋण लेने जैसा ही है। परन्तु, यह अन्तिम समाधान है जो अपरिहार्य परिस्थितियों में अपनाया जा सकता है, क्योंकि इसमें बड़े खोट और जोखिम हैं।

लाभकारी उद्देश्यों के लिए पूँजी की उपलब्धता

ऋण आधारित वित्त-व्यवस्था के पश्चात् अब यह भी देख लीजिए कि हमारे समक्ष जो (वैकल्पिक) प्रणाली है, उसमें व्यावसायिक वित्त का स्वरूप क्या होगा। इस सम्बन्ध में जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं कि ब्याज पर प्रतिबन्ध लोगों के लिए यह दरवाज़ा तो पूर्ण रूप से बन्द कर देगा कि वे श्रम तथा जोखिम (Risk) दोनों से बचकर अपनी पूँजी को सुरक्षा एवं पूर्वनिर्धारित प्रतिफल की गॉरंटी के साथ किसी काम में लगा सकें। और इसी प्रकार ज़कात उनके लिए उस दरवाज़े को भी बन्द कर देगी कि वे अपना धन रोक रखें और उसपर 'माया का साँप' बनकर बैठ जाएँ। फिर यह कि एक सही इस्लामी सरकार की मौजूदगी में लोगों के लिए अय्याशियों और फ़ुज़ूलख़र्चियों का दरवाज़ा भी खुला न रहेगा कि उनकी अतिरिक्त आय उधर बह निकले। इसके पश्चात् उन तमाम लोगों को जो आवश्यकता से अधिक धन रखते हों, तीन रास्तों में से कोई एक रास्ता ही अपनाना पड़ेगा–

(1) अगर वे और अधिक आय के इच्छुक न हों तो अपनी बचत को

जनकल्याण के कार्यों में व्यय करें। उसका तरीक़ा यह हो सकता है कि स्वयं किसी अच्छे कार्य के लिए वक़्फ़ (समर्पित) कर दें या राष्ट्रीय और सामुदायिक संस्थाओं को चन्दा दे दें या फिर निस्स्वार्थ भाव से इस्लामी हुकूमत के हवाले कर दें, ताकि वे उसे जनकल्याण और सार्वजनिक विकास और जनता के उत्थान के कार्यों पर व्यय करें। अन्तिम विकल्प को प्राथमिकता दी जाएगी, यदि सरकार का संचालन ऐसे लोगों के हाथ में हो जिनकी ईमानदारी एवं बुद्धिमत्ता पर सामान्य रूप से लोगों को भरोसा हो। इस प्रकार सार्वजनिक प्रयोजनों एवं विकास व कल्याण के कार्यों के लिए सरकार को और अन्य सामाजिक संस्थाओं को धन की एक बड़ी मात्रा हमेशा निशुल्क मिलती रहेगी जिसका ब्याज और लाभ तो दूर, मूल राशि का भुगतान करने के लिए भी जनता पर टैक्स का कोई भार न पड़ेगा।

(2) यदि वे आमदनी के इच्छुक तो न हों, मगर अपने अतिरिक्त धन को सुरक्षित रखना चाहते हों तो उसे बैंक में जमा करा दें और उसे 'अमानत' में रखने के बजाय अपने ज़िम्मे ऋण के रूप में लें। इस स्थिति में बैंक के लिए आवश्यक होगा कि इस जमा को माँगने (On Demand) पर अथवा निर्धारित अवधि पर उन्हें वापस कर दे। बैंक को यह अधिकार प्राप्त होगा कि 'क़र्ज़' की इस रक़म को कारोबार में लगाए और लाभ प्राप्त करे। इस लाभ में से कोई भाग उसे खातेदारों को देना न होगा, बल्कि वह पूर्णरूप से बैंक का लाभ होगा। इमाम अबू-हनीफ़ा (रह॰) के व्यापार में इस इस्लामी सिद्धान्त का उदाहरण मिलता है। उनकी ईमानदारी और असाधारण साख के कारण लोग अपना धन उनके पास सुरक्षा की दृष्टि से रखवाते थे। इमाम साहब इस धन को 'अमानत' के बजाय 'क़र्ज़' के रूप में लेते और उसे अपने व्यापारिक कार्यों में प्रयुक्त करते थे। इस्लामी सिद्धान्त यह है कि अगर कोई व्यक्ति किसी के पास 'अमानत' रखवाए तो अमानत रखनेवाला उसे प्रयोग में 'नहीं' ला सकता, परन्तु यदि अमानत नष्ट हो जाए तो हरजाना भी नहीं देना होता। इसके विपरीत यदि वही माल 'ऋण' के

रूप में दिया जाए तो 'ऋणी' को उसे प्रयोग करने एवं लाभ कमाने का अधिकार है। हाँ, समय पर ऋण लौटाने का उसपर उत्तरदायित्व है, इसी नियम के अनुसार अब भी बैंक कार्य कर सकते हैं।

(3) यदि वे अपनी बचत की धन-राशि को किसी लाभकारी कार्य में लगाने के इच्छुक हों तो उनके लिए इसे हासिल करने का एक ही रास्ता खुला होगा, वह यह कि अपनी पूँजी को लाभ-हानि समानुपातिक साझेदारी के सिद्धान्त पर लाभ देनेवाले कामों में लगाएँ, चाहे सरकारी माध्यम से या बैंकों के माध्यम से। स्वयं लगाना चाहेंगे तो उन्हें किसी व्यवसाय में साझेदारी की शर्तें आप तय करनी होंगी, जिनमें नियमानुसार इस बात को तय करना ज़रूरी होगा कि पक्षकारों के बीच लाभ-हानि का बँटवारा किस अनुपात में होगा। इसी प्रकार संयुक्त पूँजी कम्पनियों में भी हिस्सेदारी का स्वरूप केवल यह होगा कि साधारण अंश (Equity Shares) क्रय किए जाएँ। बाँड, डिबेंचर और इस तरह की दूसरी चीज़ें जिनमें निवेशक को कम्पनी से एक लगी-बन्धी आय प्राप्त होती है, सिरे से मौजूद ही न होंगी।

वर्तमान व्यवस्था की भाँति उस व्यवस्था में भी निवेशक के लिए सबसे भरोसे योग्य तरीक़ा यही है कि लोग बैंकों के माध्यम से अपनी पूँजी लाभकारी कार्यों में लगाएँ। इसलिए हम उसकी कुछ विस्तार से चर्चा करना चाहते हैं ताकि लोगों के सामने इस बात का स्पष्ट चित्र आ जाए कि ब्याज की समाप्ति के पश्चात् बैंकिंग व्यवसाय किस प्रकार चल सकता है और लाभ कमाने के इच्छुक उससे किस प्रकार लाभान्वित हो सकते हैं।

इस्लामी बैंकिंग

बैंकिंग से सम्बन्धित हमारा दृष्टिकोण यह है कि यह काम अपने आपमें ग़लत या नाजाइज़ नहीं है। वास्तव में बैंकिंग भी वर्तमान सभ्यता की विकसित की हुई बहुत-सी चीज़ों की भाँति एक ऐसी महत्वपूर्ण लाभप्रद चीज़ है, जिसको एक शैतानी तत्व के घुस आने ने गन्दा कर रखा है। बैंक एक तो ऐसी अनेक सेवाएँ प्रदान करता है जो वर्तमान युग की सामाजिक और

व्यापारिक आवश्यकताओं के अंग भी हैं और अपरिहार्य भी, जैसे फ़ंड ट्रान्सफ़र, विदेशी लेन-देन में सुविधा पहुँचाना, मूल्यवान वस्तुओं की सुरक्षा करना, साख-पत्र (Letters of Credit) और यात्री-चेक जारी करना, कम्पनियों के शेयरों की बिक्री का प्रबन्ध करना और अनेक ऐसी सेवाएँ प्रदान करना जिन्हें थोड़े-से कमीशन पर बैंक के सुपुर्द करके आज एक व्यस्त आदमी बहुत-से झंझटों से मुक्त हो जाता है। ये ऐसे कार्य हैं जिन्हें बहरहाल जारी रहना चाहिए और इनके लिए एक अलग संस्था का होना आवश्यक है। फिर यह बात भी ज़रूरी है कि समाज का अतिरिक्त धन बिखरा हुआ रहने के बजाय व्यापार, व्यवसाय, कृषि और अर्थव्यवस्था के प्रत्येक भाग के लिए एक केन्द्रीय भण्डार में इकट्ठा हो और वहाँ से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को आसानी से हर समय और हर स्थान पर उपलब्ध हो सके। इसके साथ ही आम लोगों के लिए भी इसमें बड़ी सुविधा है कि जो थोड़ा-बहुत धन उनकी आवश्यकता से बचा रहता है, उसे वे किसी लाभकारी काम में लगाने के अवसर अलग-अलग ढूँढ़ते फिरने के बजाय सब उसको एक केन्द्रीय भण्डार में जमा कर दिया करें और एक भरोसेमन्द तरीक़े से सामूहिक तौर पर उन सब धन-राशियों का विनियोग और प्राप्त लाभ के वितरण का समुचित प्रबन्धन होता रहे। फिर लगातार वित्त का कार्य करते रहने के कारण बैंक के प्रबन्धकों और कर्मचारियों को इस कार्य में ऐसी निपुणता और गहरी दृष्टि प्राप्त हो जाती है जो व्यापारियों, उद्योगपतियों और अन्य आर्थिक क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को नहीं मिल पाती। यह विशेषज्ञता एवं निपुणता अपने आपमें एक बहुमूल्य चीज़ है और बड़ी लाभकारी सिद्ध हो सकती है अगर यह मात्र साहूकार के स्वार्थ का हथियार बनकर न रहे, बल्कि कारोबारी लोगों के साथ सहयोग में प्रयुक्त हो। परन्तु बैंकिंग के इन गुणों और फ़ायदों को जिस चीज़ ने उलटकर पूरे समाज के लिए बुराइयों और बिगाड़ से बदल दिया है, वह ब्याज है। और उसके साथ बिगाड़ की दूसरी बुनियाद यह हो गई है कि ब्याज़ के आकर्षण से जो पूँजी खिंच-खिंचकर बैंकों में इकट्ठा हो जाती है, वह व्यवहारतः कुछ स्वार्थी पूँजीपतियों की दौलत बनकर रह जाती है जिसे वे समाज के हितों के प्रतिकूल (Anti Social) रीतियों से प्रयोग में लाते हैं।

इन दो दोषों को यदि दूर कर दिया जाए तो बैंकिंग एक स्वच्छ काम भी हो जाएगा, समाज के लिए वर्तमान की तुलना में बहुत अधिक हितकारी भी होगा और सम्भव है कि साहूकारों के लिए भी ब्याज खाने की तुलना में यह दूसरी शुद्ध पद्धति आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक लाभप्रद सिद्ध हो।

जो लोग यह सोचते हैं कि ब्याज-निषेध के बाद बैंकों में पूँजी एकत्रीकरण ही बन्द हो जाएगा, वे भ्रम में है। वे समझते हैं कि जब ब्याज प्राप्ति की आशा ही न होगी तो लोग क्यों अपनी बचत बैंक में रखवाएँगे, जबकि उस समय ब्याज की नहीं, बल्कि लाभ मिलने की उम्मीद होगी और क्योंकि लाभ की सम्भावना निर्धारित और सीमित नहीं होगी, इसलिए सामान्य ब्याज-दर की तुलना में कम लाभ प्राप्त करने की जितनी सम्भावना होगी, उतनी ही अधिक लाभ प्राप्त करने की भी होगी। इसके साथ बैंक वे सभी सेवाएँ प्रदान करते रहेंगे, जिनके लिए अब भी बैंक से सम्पर्क किया जाता है। अतः यह निश्चित है कि जिस मात्रा में अब पूँजी बैंकों के पास आती है, उसी मात्रा में ब्याज-निषेध के बाद भी आती रहेगी, बल्कि उस समय प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय में उन्नति होगी, रोज़गार बढ़ जाएगा और आय भी बढ़ेगी। इसलिए वर्तमान की तुलना में कहीं अधिक बचतें बैंकों में जमा होंगी।

इस जमा-राशि (Deposit) का जितना भाग चालू खाते (Current Account) में जमा होगा, उसको तो बैंक किसी लाभकारी स्कीम में न लगा सकेंगे, जिस तरह अब भी नहीं लगा सकते। इसलिए वह रक़म अधिकांशतः दो बड़े कामों में प्रयुक्त होगी—एक दिन-प्रतिदिन का नक़द लेन-देन—दूसरे व्यावसायियों को अल्पकालीन ब्याज-रहित ऋण प्रदान करने और हुंडियों को भुनाने (Discounting of Bills of Exchange) में।

रही वह पूँजी जो दीर्घकाल के लिए बैंकों में रखी जाएगी तो वह मात्र दो प्रकार की होगी। एक वह जिसके मालिक केवल अपने धन की सुरक्षा चाहते हैं। ऐसे लोगों के माल को बैंक ऋण के रूप में लेकर स्वयं व्यापार में प्रयुक्त कर सकते हैं, जैसा कि हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। दूसरा वह धन जिसके स्वामी अपने माल को बैंकों के माध्यम से व्यापार-व्यवसाय में लगाना

चाहते हैं। उनके माल को 'अमानत' में रखने के बजाय हर बैंक को उनके साथ साझेदारी का अनुबन्ध करना होगा। फिर बैंक उस पूँजी को अपनी दूसरी पूँजी के साथ मुज़ारबत (Mudharba-Sleeping Partnership) के उसूलों पर व्यापारिक गतिविधियों में, उत्पादन की स्कीमों में, कृषि कार्यों में और सार्वजनिक व सरकारी लाभकारी कार्यों में लगा सकेंगे। इससे कुल मिलाकर दो बहुत बड़े लाभ होंगे। एक यह कि साहूकार का हित कारोबार के हित के साथ जुड़ जाएगा, इसलिए कारोबार की आवश्यकतानुसार पूँजी उसका सहयोग करती रहेगी और वे कारक लगभग समाप्त हो जाएँगे जिनके कारण वर्तमान ब्याज-आधारित दुनिया में मन्दी के दौरे पड़ा करते हैं। दूसरे यह कि साहूकार के वित्तीय मामलों की समझ और कारोबारी लोगों की व्यापारिक एवं औद्योगिक समझ, जो आज आपस में संघर्षरत है, उस समय एक-दूसरे के साथ सहयोग एवं सहकारिता करेंगी और यह सभी के लिए हितकारी होगा। फिर जो लाभ इन माध्यमों से बैंकों को प्राप्त होगा, उसको वे अपनी प्रबन्धकीय लागत निकालने के बाद एक निर्धारित अनुपात में अपने और खाताधारकों में वितरित कर देंगे। इस मामले में अन्तर यह होगा कि इस समय लाभांश (Dividend) बैंकों के अंशधारियों (Share Holders) में वितरित होता है, तथा खाताधारकों को ब्याज दिया जाता है। उस समय दोनों में लाभ का बँटवारा होगा। अब खाताधारकों को एक निर्धारित दर से ब्याज मिला करता है उस समय 'दर' का निर्धारण न होगा, बल्कि जितना भी लाभ होगा, चाहे कम हो या अधिक, वह सब एक अनुपात के साथ विपरित होगा। हानि और दिवाला का जितना जोखिम अब है, उतना ही उस समय भी होगा। अब जोखिम और उसकी तुलना में असीमित लाभ की सम्भावना दोनों केवल बैंक के हिस्सेदारों के लिए ही हैं, उस समय यह दोनों चीज़ें खाताधारकों और हिस्सेदारों (अंशधारियों) दोनों के लिए समान हो जाएँगी।

रह गई यह बात कि लाभ के आकर्षण से जो धन उनके पास इकट्ठा होता है उसकी केन्द्रित शक्ति पर व्यवहारतः कुछ लोग क़ाबिज़ होते हैं तो उसके तोड़ के लिए केन्द्रीय बैंकिंग (Central Banking) का कार्य सरकार

अपने हाथ में रखे और क़ानून द्वारा सभी निजी बैंकों पर सरकारी नियन्त्रण इस सीमा तक स्थापित कर दिया जाए कि साहूकार अपनी वित्तीय शक्ति का अनुचित प्रयोग न कर सकें।

ब्याज-रहित वित्त-व्यवस्था की यह संक्षिप्त रूप-रेखा जो हमने प्रस्तुत की है, क्या उसे देखने के पश्चात् भी यह आशंका शेष रह जाती है कि ब्याज-निषेध व्यावहारिक नहीं हैं?

—■—